काव्य, यथार्थ और प्रगति

डा० रांगेय राघव
(एम० ए० पी-एच० डी)

विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल-रोड, आगरा।

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
सं० २०१२ वि०
मूल्य ३)

मुद्रक—
राजकिशोर अग्रवाल
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में काव्य की जीवन संबंधी व्याख्या है, यथार्थ का दर्शन सम्बन्धी विकास है और विभिन्न अवस्थाओं में प्रगति का युगानुरूप विश्लेषण है।

आशा है पाठकों को इसमें एक नयापन मिलेगा जो उन्हें विचार क्षेत्र में नयी दिशाएँ दिखायेगा।

—प्रकाशक

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
सं० २०१२ वि०
मूल्य ३)

मुद्रक—
राजकिशोर अग्रवाल
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में काव्य की जीवन संबंधी व्याख्या है, यथार्थ का दर्शन सम्बन्धी विकास है और विभिन्न अवस्थाओं में प्रगति का युगानुरूप विश्लेषण है।

आशा है पाठकों को इसमें एक नयापन मिलेगा जो उन्हें विचार क्षेत्र में नयी दिशाएँ दिखायेगा।

—प्रकाशक

[१]

साहित्य में यथार्थवाद का प्रवेश तो बहुत पुराना है किन्तु उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन अन्य ही प्रकारान्तर से आकर उपस्थित हुआ। यूरोप में मध्यवर्गीय चिन्तन ने अपने निराशावाद से साहित्य में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद को प्रश्रय दिया और उसके साथ ही अन्य ऐसे अनेक प्रकार के वादों को भी जन्म दिया कि भारतीय परम्परा ने अपने सामने नयी ही समस्या को पाया। भारतीय काव्य ने अपने लम्बे जीवन में अनेक मंजिलों को पार किया था। वैदिक काव्य में स्तुतियाँ थीं। उपनिषदों में चिन्तन। किन्तु स्वयं भारतीय परम्परा ने सामन्तवाद की उदयकालीन रामायण के रूप में वास्तविक काव्य को स्वीकृत किया, क्योंकि वह मनुष्य सम्बन्धी काव्य था। उसके बाद ही काव्य के विषय में हमें भारत में विभिन्न विचारों के स्कूल मिलते हैं जो काव्य की व्याख्या करते हैं, किन्तु यथार्थ को उनमें उस रूप में नहीं पाया जाता जिस रूप में आधुनिक विद्यार्थी देखता है। आनन्द की व्याख्या करने वालों ने यद्यपि लोक मंगल के पक्ष को अपनाया था, किन्तु कालान्तर में उन्होंने लोकमंगल को 'रस' के चरणों पर बलिदान कर दिया और 'रस' के लिये 'भाव', 'विभाव', 'अनुभाव' आदि के बाद 'अस्थायी और संचारी भावों' के विश्लेषण पर ही सब कुछ निहित कर दिया। इसका कारण था कि समाज का ढाँचा इतना धीरे चलता था कि काव्य पर उसका प्रभाव भी बहुत धीमा पड़ता था। इस प्रकार काव्य में जो समाज की शिथिल गति प्रतिविम्बित हुई, उसीका परिणाम

यह हुआ कि 'समाज पक्ष' साहित्य से धीरे-धीरे दूर होता गया। रामायण में बाल्मीकि ने जो समाजपक्ष उपस्थित किया था, वह अध्यात्म रामायण में नहीं रह सका और कालान्तर में सम्प्रदाय विशेषों के मतान्तर अपने-अपने दार्शनिक पक्षों को लेकर सामने आने लगे। हिन्दी-काव्य में निम्न वर्गों ने 'समाजपक्ष' को पकड़ने की चेष्टा की, किन्तु वे बहुधा खण्डनात्मक स्वरूप में ही अपने तर्कों को प्रस्तुत कर सके। भक्त कवियों में तुलसीदास अवश्य सतर्क और जागरूक थे और उन्होंने समाज को आदर्श सामन्तीय व्यवस्था की ओर फिर आकर्षित किया। किन्तु रीतिकालीन काव्य में हमें समाजपक्ष अधिक से अधिक गौण होता हुआ मिलता है। इसी परिस्थिति में यथार्थ की आवश्यकता ने प्रवेश किया और भारतेन्दु ने उसे चित्रित भी किया। किन्तु यह धारा आगे चलकर रुक गई। क्योंकि भारतेन्दु की यह सामाजिक अभिव्यक्ति वास्तव में अधिक गहराई लिये हुए नहीं थी। द्विवेदी कालीन काव्य परिष्कृत हुआ और परिणाम यह हुआ कि छायावाद ने मूलतः यद्यपि व्यक्ति-विद्रोह किया, किन्तु उसने काव्य को अत्यन्त तिरष्कृत वाच्य-ध्वनि से अलंकृत किया। इसी परिस्थिति में भारतीय साहित्य साधक को यथार्थ की पुकार सुनाई दी और उसने आँख फिराकर अपने साहित्यों की ओर देखा।

हिन्दी के लेखक को यथार्थ—सामाजिक यथार्थ के वर्णन के निम्नलिखित रूप विशेषकर दिखाई दिये :—

१—रामायण में चित्रित यथार्थ वर्णन जिसमें समाजपक्ष प्रमुख था।
२—तुलसी का रामचरितमानस जिसमें अपने प्रकारांतर से समाजपक्ष था।
३—भारतेन्दुकालीन यथार्थवाद।
४—द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक वर्णनों में विम्बित समाजपक्ष।

इन सबसे उसकी यथार्थ की भूख नहीं मिटी और वह और भी गहराई में यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ। इस यथार्थ ने दो विशेष रूप पकड़े। एक की बुनियाद में मार्क्स का चितन था, दूसरे की बुनियाद में फ्रायड का चिन्तन।

यथार्थवाद ने समाजपक्ष में मार्क्सवाद को पकड़ा और व्यक्तिपक्ष में फ्रायड वाद को। मार्क्सवाद का आधार लेने पर यथार्थवाद के निम्नलिखित रूप प्रकट हुए—

१— उसने एक आदर्श को अपना आधार बनाया और उसकी प्राप्ति के लिये समाज की विषमताओं का चित्रण किया।

२—विषमताओं के इस चित्रण से वह उस व्यवस्था के प्रति घृणा उत्पन्न करना चाहता था, जिसमें यह विषमताएँ सहज रूप से चलती चली जा रही थीं।

३—उसने समाज के अन्तर्गत अपना प्रभाव दिखानेवाले आर्थिक कारणों की व्याख्या की और शोषण के रूपों को दिखाया।

४—इस प्रदर्शन में उसके सामने प्रश्न उठा कि जो जैसा है उसको वैसा ही दिखा देना, कार्य्य को पूरा नहीं करता, उसमें लेखक एक दर्शक मात्र होता है।

५—लेखक को अगुआ बनने के लिये पथ का प्रदर्शन करना चाहिये। अतः उसने यह चित्रित किया कि जो है उसे बदलकर किस रूप को ग्रहण करना चाहिये और इसे भी उसने यथार्थ ही कहा।

६—इससे दो बातें हुईं। एक लेखकवर्ग ने परिवर्तन की ओर इङ्गित किया, और दूसरे वर्ग ने उस परिवर्तन को बहुत स्पष्ट रूप देने के लिये उपदेशात्मकता और स्पष्ट प्रचारात्मकता को अपनाया।

७—इस दूसरे वर्ग की प्रवृत्ति ने धीरे-धीरे अपनी राजनैतिक विचारधारा अथवा अपनी पार्टी के आदेशों को शुष्क राजनैतिक रूप में साहित्य में उतारा। परिणामस्वरूप कुत्सित समाजशास्त्री दृष्टिकोण ने यथार्थ को संकुचित, सीमित और विकृत कर दिया।

८—इस कुत्सित समाजशास्त्री दृष्टिकोण के मूल में वह अतिक्रान्तिवाद था जो परिस्थितियों के पकने के पहले ही समाजवादी यथार्थ को हिन्दी में उपस्थित करना चाहता था।

९—समाजवादी यथार्थ की इस आवेशित प्रवृत्ति ने वास्तविक यथार्थ को धीरे-धीरे छोड़ दिया और वह जन-सत्य के स्थान पर पार्टी-सत्य को प्रश्रय देने लगा, यद्यपि उसका कहना यही रहा कि क्योंकि जन ही पार्टी है अतः दोनों के सत्य में अंतर ही नहीं, यद्यपि वास्तविकता के अध्ययन ने पार्टियों के सदस्यों के अतिरिक्त और किसी को ऐसा नहीं दिखलाया।

समाजपक्ष के विरुद्ध व्यक्तिपक्ष में जो फ्रायडवाद को यथार्थ ने पकड़ा उसके कारण और विवरण यों हैं :—

१—यह यथार्थ समाजगत सत्य में अपनी पलायनवादी वृत्ति को खोना नहीं चाहता था।

२—समाज के शोषण से व्यथित जन-समाज जिस मुक्ति के मार्ग को अपना रहा था, उसके विरुद्ध सामन्तीय और पूँजीवादी शक्तियों ने अपना बचाव सोचा और वह पुराने समन्वयवाद को सौन्दर्यवाद का नाम देकर बचने के प्रयत्न करने लगा।

३—इस प्रवृत्ति ने जहाँ अपने सूक्ष्मरूप में भक्ति का पल्ला पकड़ा,

४—वहाँ इसी प्रवृत्ति ने अपने स्थूल रूप में प्रकृतवाद को ही अपना चरम लक्ष्य बनाना।

५—अपनी इस मनोवृत्ति को परिमार्जित रूप में प्रस्तुत करने के लिये उसने अतियथार्थवाद, अभिव्यञ्जनावाद तथा इसी प्रकार के अन्य वादों को स्वीकार किया, जो उसकी उस मनोवृत्ति के सम्बल बने, जिसके द्वारा वह अपने को समाज के कठोर सत्यों की ओर लाने से बचाना चाहता था। यूरोप का यथार्थवाद बहुधा इसी रूप में एक ओर पूँजीवादी संसार में फला-फूला, जबकि यूरोप (रूस आदि) में समाजवाद ने साहित्य को मार्क्सवादी यथार्थवाद की ओर खींचा।

संक्षेप में यही यथार्थवाद का रूप रहा है। इसके अतिरिक्त भारत में गांधीवादी यथार्थवाद का भी अपना प्रमुख हाथ रहा है, जिसके बहुतांश में प्रेमचन्द प्रतिनिधि थे। किन्तु अपनी वास्तविकता के चित्रण के बाहर जहाँ प्रेमचन्द की उपदेशात्मकता है, वह साहित्य में क्रमशः उसी अवस्था को प्राप्त हो रही है, जिस अवस्था को किसी भी प्रचारक के उपदेश प्राप्त हो जाते हैं, जबकि परिस्थिति बदल जाती है। परिस्थिति के बदल जाने पर भी जो यथार्थ अपनी शक्ति को नहीं खो देता, वह वही होता है जो मनुष्य के भावपक्ष को पकड़ कर रहता है। यही कारण है कि रामचंद्र के जीवन की घटनाओं की परिस्थितियाँ आज भी अपना प्रभाव डालती हैं, किन्तु जो उपदेशात्मकता राम-राज्य के सम्बन्ध में प्राप्त होती है, वह अपना प्रभाव नहीं डाल पाती।

इस प्रकार हमने देखा कि यथार्थ अपने रूपों के वैविध्य में मूलतः व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लोक-कल्याण के लिये प्रकट करता है और वह भावपक्ष को ग्रहण किये बिना अशक्त होता है। यदि वह समाजपक्ष का भाव पक्ष में व्यक्ति से तादात्म्य कराने में सफल होता है, तो वह स्थायी मूल्यों का सिरजन करने में समर्थ होता है।

यथार्थ की आत्मा ही प्रगति है।

साहित्य में विद्वान दो वस्तुओं को प्राधान्य देते हैं—

१—वस्तु

२—रूप।

रूप को ही प्राधान्य देने वाले किसी भी विचित्रता या नवीनता को श्रेष्ठ समझते हैं। उनकी राय में वह मनुष्य की अब तक की अभिव्यक्तियों में एक और जोड़ देने के समान है अतः वह मनुष्य की भाव-भूमि में एक नया वृक्ष उगा देने के समान है। वे रूप को इतना स्वतन्त्र समझते हैं कि उसके साथ के समाज तत्त्व पर ध्यान ही नहीं देना चाहते।

आश्चर्य्य तो यह है कि उनके साथ ही समाजवादी विचारक भी मानते हैं कि रूप अपने आप ही साहित्य का सृजन करके सौन्दर्य्य को जन्म दे सकता है। किन्तु उनकी हठधर्मी है कि वे उसे तब तक स्वीकार नहीं करना चाहते जब तक कि उसमें 'वस्तु' का प्राधान्य वही न हो, जो कि वे स्वयं चाहते हैं। रूपवादी व्यक्ति की स्वेच्छा को सब नियमों से परे मानते हैं और व्यापक और सूक्ष्म (मैक्रोकोज़्म और माइक्रोकोज़्म) की दो विभिन्न नियमावली मानकर दोनों के विरोध से साहित्य पर कोई प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते। वस्तुवादी व्यक्ति की स्वेच्छा को बिल्कुल नहीं मानते, साहित्य को राजनीति का अनुयायी मानते हैं और समाजशास्त्र की नपी-तुली नियमावली में सबको घटित करने का प्रयत्न करते हुए यान्त्रिकता का आश्रय ग्रहण करते हैं।

मेरे मत में इन दोनों का हल भारतीय चिन्तन में है जो यह मानता है कि—

१—साहित्य समाजगत होता है,

२—किन्तु वह व्यक्तिगत माध्यम से प्रकट होता है।

३—व्यक्तिगत माध्यम से प्रकट होने के कारण वह भावपक्ष पर निर्भर होता है।

४—भावपक्ष बदलते समाज में तुलनात्मक रूप में स्थायी होने के कारण 'शाश्वत' जैसा होता है।

५—व्यक्तिपक्ष का यह सन्तुलन 'आनन्द' का सृजन करता है और व्यक्ति को यन्त्रवत नहीं बनने देता।

६—किन्तु वह व्यक्ति की स्वेच्छा को ऐसा नहीं मानता कि वह समाज-सत्य के परे है।

७—इस प्रकार वस्तु और रूप दो नहीं रहते, मूलतः वे एक ही प्रमाणित होते हैं। केवल 'रूप' 'वस्तु' के बिना खड़ा ही नहीं हो सकता। यदि वह ऐसा करता है तो वह 'विश्लेषण' है, या 'पुराने की नकल' है, या 'अनर्गल' ही कहा जा सकता है।

८—जीवित रहने वाले व्यक्ति को चलते समाज के भीतर देखना और उस व्यक्ति के पूर्णत्व को प्रतिबिम्बित करके लोक-कल्याण की ओर ले जाने वाला वह वास्तविकता का चित्रण, जो उसे उदात्त बना कर सत्य की ओर प्रेरित करता है, वही वास्तविक यथार्थवाद है।

हिंदी में इस प्रवृत्ति की तीन मंजिलें आज भी दिखाई देती हैं।

१] उसका जातीयता के रूप में प्रकटीकरण।

२] उसका राष्ट्रीयता के रूप में प्रकटीकरण।

३] उसका अन्तराष्ट्रीयता के रूप में प्रकटीकरण।

इतिहास के उस विकास को यहाँ दुहराना अनावश्यक है जिसने विभिन्न समयों में इन तीनों को जन्म दिया है। यहाँ केवल इतना कहना अलं होगा कि सामंतीय जीवन के फलस्वरूप व्यापारी वर्ग विकास करने के लिये उत्थान करने की चेष्टा में रत हुआ किन्तु उसके सामने समस्त आदर्श सामंतीय ही बने रहे तब जातीयतावाद का उत्थान हुआ। सामन्तवाद के पतन काल में पूंजीवाद ने विकास किया तब राष्ट्रीयतावाद का जन्म हुआ और समाजवादी विचार धारा ने अन्तराष्ट्रीय दृष्टि को बढ़ाया। भारत में (वसुधैव कुटुम्बकम्) संसार को एक परिवार मानने की धारणा बहुत प्राचीन है। वह धारणा यहाँ

तब जन्म ले सकी थी जब कि भारत की विभिन्न जातियों की आपस में अन्त-र्भुक्ति हो रही थी और दृष्टिकोण व्यापक होता जा रहा था। इसीलिये इस 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की स्वीकृति में समाजपक्ष में भीतर तो कई विषमताएं रह ही गईं, उसका व्यवहार में तो और भी संकुचित रूप रहा। वह अन्तर्राष्ट्रीयता स्पष्ट ही आज की अन्तर्राष्ट्रीयता के समकक्ष नहीं रखी जा सकती। इन दोनों का भेद कितना स्पष्ट है, इसे फिर कहने की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त तीनों मंजिलें हमारी अभिव्यक्ति में जहाँ एक ओर अपने सहिष्णु रूप में प्रगट हुई हैं, वहाँ दूसरी ओर पुराने ढाँचों को बनाये रखने के लिये प्रकारांतर से इन्होंने अपना उग्र स्वरूप भी प्रकट किया है। भारतीय चिंतन का समन्वयवादी दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी रहा है और इसलिये उसने उग्रताओं के कौने सदैव ही घिसे हैं। इस मानवतावाद की पृष्ठभूमि में यहाँ की विषमताओं और संघर्षों में चलने वाले वे आंदोलन हैं, जो जनसमाज की आवाज को शक्ल देते रहे हैं, तो स्पष्ट ही उन शक्लों के पीछे उत्पादन के साधन न बदलने, या धीरे बदलने, या असम रूप से बदलने के कारण मौजूद रहे हैं, जिन्होंने झटकों (Leaps) के स्थान पर विकास (Evolution) को ही ग्रहण किया है। यह विकास पर आश्रित चिंतन, जो कि तत्संबंधी समाज व्यवस्था के अब भी जीवित रहने पर आधारित हैं, अपने अच्छे रूप में सहिष्णु है, और अपने उग्र रूप में नितान्त प्रतिक्रियावादी। वही यथार्थवाद श्रेष्ठ है जो संकुचित सीमाओं के अन्तर्विरोधों को प्रकट करके मनुष्य को कुत्सित मनोवृत्ति से उबार कर उसे व्यापकतम दृष्टिकोण देता है, किन्तु व्यातकत्व के आकाश को देखने की दौड़ में धरती को भुला नहीं देता।

आकाश की दौड़ उसके चिंतन का वह पक्ष है जिसके द्वारा वह अपने जीवन की व्याख्या करने की चेष्टा करता है।

मनुष्य की यह पुरानी तृष्णा रही है कि उसने अपनी सत्ता को सदा से ही अपनी सामर्थ्यानुसार समझने का प्रयत्न किया है। तब वह आदिम अवस्था में ही था और उसके साधन भी कम ही थे, तब भी वह अपनी योग्यता के अनुसार वस्तुसत्य को समझने का यत्न किया करता था। उसके सामने तब जो कुछ भी था, उसे वह रहस्य के रूप में देखता था। अपनी जिंदगी बिताने

के लिये उसे भौतिक साधनों की जरूरत पड़ा करती थी। उसे रोटी अर्थात् भोजन की आवश्यकता थी। उसके लिये उसे बहुत परिश्रम करना पड़ता था। जब वह शिकार करके पेट भरता था तब ही उसने पशुओं की क्रूरता से बचने के लिये आयुध बनाये थे। वह जिन पशुओं का अच्छा अध्ययन कर लेता था उन्हीं को वह औरों की तुलना में अच्छी तरह मार पाता था। इस विश्वास के मूल में उसने अपने तत्कालीन ज्ञान द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि जिस पशु का चित्र वह गुफा में बना लेता था वह उसके द्वारा मारे जाने में अधिक उपयुक्त हो जाता था। स्पष्ट ही चित्र वह उसी पशु का बना पाता था, जिसकी आकृति उसके मानस में इतनी बस चुकी होती थी कि वह उसे अंकित भी कर लेता था। किंतु विश्वास का रूप यही था कि जिसका वह चित्र बना लेता है, उसी को सहज ही मार भी पाता है। यों इस विश्वास में रहस्य की भावना बनी रही और समाज में जादू ने जन्म लिया। इस जादू के दो रूप हुये। एक वह जो वशीकरण के काले कामों में काम आता, दूसरा वह जो उसकी रहस्य की तृष्णा का प्रकारांतर से सुलझाने का प्रयत्न था। उस समय यही उसकी आध्यात्मिकता थी, किंतु इसका मूल समाजगत ही था। भले ही मेधावी व्यक्ति ही इस प्रकार की व्याख्या या प्रयोग किया करते थे,, क्योंकि मेधावी ही अपनी बुद्धि को उन्नत कर सकते हैं, फिर भी वे समाज से अलग होकर अपने चिंतन को नहीं रख पाते थे, क्योंकि मूलतः वे जो देखते थे उसी की तो उनके मानस में छाया पड़ा करती थी।

१ भौतिक जगत अपनी सत्ता के साथ उपस्थित था। वह कोई हवाई चीज नहीं, एक ठोस चीज थी। स्तालिन ने भी यही व्याख्या की है और

---

1. The world is by its very nature material ××× matter, nature, being, is an objective reality existing on and side and independent of our consciousness ×× Thought is a product of matter ××× that the world and its laws are fully knowable ××

(Dialectical and his torical materialism J. Stalin. Moscow. 1952. pp, 18, 19, 21.)

वह इसमें अत्यन्त सुष्ठु रहा है। मनुष्य की जीवित रहने की समस्या उसी के बल से हल होती है। प्रकृति, सत्ता, और भौतिक वस्तु सब ऐसी वस्तु है जो मनुष्य की चेतना के बाहर भी अपनी सत्ता और महत्त्व रखती हैं। जैसाकि कुछ दर्शन के योग्य विचारकों ने कहा है कि जो कुछ दिखाई देता है, वह सब है वास्तव में कुछ नहीं, वह तो व्यक्ति की चेतना के कारण ही ग्रहण होता है। यदि कोई व्यक्ति पागल है या किसी व्यक्ति में दिमाग नहीं है, तो वह अनुभव नहीं कर सकता कि कहाँ क्या है, और कहाँ क्या नहीं है। अतः जो कुछ है वह मनुष्य का मस्तिष्क है। अर्थात् मनुष्य की चेतना ही के कारण सारी सृष्टि का आभास या ज्ञान होता है। इस विचारधारा के लोग यह नहीं मानते कि यदि उनका जन्म न होता तो भी यह दुनियाँ रहती और सैकड़ों लोग फिर भी चलते फिरते रहते। वे तो यही कहेंगे कि भले ही कुछ हो, किन्तु जब हम नहीं हैं तो यह सब कुछ नहीं है, क्योंकि फिर हम जानते ही कहाँ और कैसे कि यह सब है। इस विचार धारा के अनुसार जिस समय कानपुर से एक व्यक्ति बम्बई जाता है तब कानपुर का आस्तित्व नहीं रहना चाहिये। ऐसे विचारकों को अपने ज्ञान के अनुभव के लिये कानपुर से बम्बई जाते वक्त किसी से लिखा पढ़ी करके रुपये लेकर जाना चाहिये और क्योंकि कानपुर फिर रहता नहीं इसलिये लौटाना भी नहीं चाहिये। फिर कचहरी के द्वारा वे दूसरे ही दर्शन के निकट पहुंच सकेंगे। यह स्पष्ट करता है कि एक व्यक्ति या कई व्यक्तियों की चेतना से ही भौतिक जगत की सत्ता निर्धारित नहीं होती। यह मनुष्य का सीमित अहंकार है कि वह ऊपरी सापेक्ष चेतना को ही सकल सत्ता की अनुभूति का एकमात्र मानदण्ड मानने का प्रयत्न करता है। भौतिक विज्ञान की अधिक से अधिक खोजें यही प्रमाणित करती जा रही हैं कि मनुष्य का जन्म इस पृथ्वी पर बाद में हुआ है, प्रकृति पुरानी है और उसका भी क्रमशः विकास होता रहा है। प्रकृति, सत्ता और भौतिक जगत को देखकर मनुष्य को जो विचार उठता है, वही उसकी चेतना है। मस्तिष्क भी भौतिक पदार्थ है। किन्तु उसकी चेतना उसके भौतिक तत्त्व का गुणात्मक परिवर्त्तन है, जो उसमें उत्पन्न होता है।

यह संसार अनेक नियमों से चालित होता है। वर्त्तमान विज्ञान के सहारे

इसके रहस्यों का उद्‌घाटन हुआ है, और होता जा रहा है। हम यह निस्संदेह कह सकते हैं कि प्राचीन काल में मनुष्य सृष्टि की जिन वस्तुओं को देख कर अपने ढङ्ग से व्याख्या करता था, उनही वस्तुओं की विज्ञान ने ठीक व्याख्या की है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विज्ञान सृष्टि के समस्त रहस्यों की खोज कर चुका है।। वह धीरे-धीरे करता जा रहा है और निरंतर करता जा रहा है। यदि हम कहें कि विज्ञान के अतिरिक्त भी मनुष्य सृष्टि के रहस्य को जान लेता है तो हमारे सामने भारतीय चिन्तन के दो पहलू आते हैं।

एक। हमारे ऋषियों ने जो सृष्टि के तत्त्व सुलझाये हैं वे सारे रहस्यों को सुलझा चुके हैं। किंतु हम स्पष्ट कह सकते हैं कि भारतीय चिंतन में अनेक मतवाद मिलते हैं, अन्य संप्रदाय मिलते हैं। उनकी एक ही बात नहीं मिलती। अतः हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जो परिवर्त्तन संसार में विज्ञान की उन्नति ने प्रस्तुत किया है, वह वे दर्शन कभी नहीं कर सके। अतः वे रहस्य को नहीं जान सके।

दो! भारतीय तन्त्र विद्या और योग विद्या बहुत विचित्र है और योगी वह काम कर दिखाते हैं जो और लोग नहीं कर सकते। मैंने स्वयं ऐसे चमत्कार देखे हैं जैसे निराधार व्यक्ति का धरती की आकर्षण शक्ति को चुनौती देते हुए ऊपर हवा में टँग जाना, आग के अखाड़े पर नंगे पाँवों चलना, ज़हर-कातिल ज़हर को खाकर पचा जाना, सीने पर से सड़क कूटने का इंजिन फिरवा देना और स्वस्थ ही उठ जाना। बर्फानी इलाके में नंगे बदन बैठना, और ऐसे अलौकिक से चमत्कार इसी प्रकार की कोटि में आते हैं। किन्तु इस प्रकार की विद्या के पुरातन होने पर भी, इसका विज्ञान की भाँति न तो साधारणीकरण ही हुआ, न सामाजिक जीवन में इसके द्वारा विज्ञान जैसा कोई परिवर्त्तन ही हुआ। अतः हम कह सकते हैं कि योग विद्या से भी सामूहिक रूप से सृष्टि के रहस्य का ज्ञान नहीं हुआ। यदि यह मान लिया जाये कि व्यक्ति की अनुभूति में ऐसा हो जाता है, तो हम उस पर कुछ कह भी नहीं सकते। योग में मानसिक शक्तियों की उन्नति होती है। उपचेतन मस्तिष्क को काबू में किया जाता है। मैस्मरिज़्म उसी का रूप है। यह केवल यही प्रगट करता है

कि मनुष्य में अभी बहुत सामर्थ्य शेष है। किंतु सामर्थ्य की उन्नति करने का यह अर्थ नहीं हो जाता कि उसके चेतन में ऐसी शक्ति आ जाती है कि प्रकृति का अलग से अस्तित्व नहीं रह जाता।

तो विज्ञान के माध्यम से ही हम इस सृष्टि को अधिक से अधिक जान सकते हैं।

इतिहास यह बताता है कि प्रत्येक युग में मनुष्य ने अपने जीवन की ऐसी व्याख्या कर लेने की चेष्टा की है कि उसके अनुसार अपने जीवन की सार्थकता को समझ सके। वह जादू के युग से आगे धर्म युग में भी निरन्तर यही प्रयत्न करता रहा है किंतु उसकी कोई व्याख्या ऐसी नहीं कही जा सकती कि वह शाश्वत बन सकी हो।

व्याख्या क्यों बदलती है? एक ही क्यों नहीं रहती?

क्योंकि समाज गतिशील है और उसके गतिशील रहने के कारण परिवर्त्तन आता है, जिसके लिये बार-बार व्याख्या में हेर फेर करने की आवश्यकता होती है। शंकराचार्य्य बृहदारण्यक भाष्य में कहते हैं—

जब कारण एक कार्य्य को उत्पन्न करता है तब वह दूसरे कार्य्य का तिरोधान कर देता है। एक कारण में अनेक कार्य्य अव्यक्त रूप से रहते हैं। उनमें से एक ही की अभिव्यक्ति एक समय में हो पाती है, शेष का रूप तिरोहित रहता है। एक कार्य के नष्ट हो जाने पर कारण का नाश नहीं होता। पिण्ड कार्य्य के नष्ट हो जाने पर मिट्टी अर्थात् कारण घट के रूप में प्रतीत होती है। अभिव्यक्ति होना ही कार्य्य की उत्पत्ति है। अभिव्यक्ति का अर्थ है ज्ञान का विषय हो जाना। अविद्यमान घड़ा सूर्य्य के उदित होने पर भी नहीं दीख सकता। इसी प्रकार असत् कार्य्य की कभी प्रतीति नहीं हो सकती। जब तक मिट्टी की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक मिट्टी के अवयव घटादि के आकार में रहते हैं। इसलिये उत्पत्ति से पहले घट मौजूद होता हैं। सिर्फ़ उसके स्वरूप पर आवरण चढ़ा रहता है, ऐसा मानना चाहिये।*

शंकर के युग में सामंतीय जीवन ऐसे गतिरोध में फंस गया था कि उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होरहा था। उस विषम समाज में ऐसा चिंतन अपने विकास

---

* दर्शन शास्त्र का इतिहास, देवराज तिवारी, १९५० पृ० १९०

क्रम में जन्म ले सका, तो उसका कारण भी मौजूद मिलता है। इसी दर्शन ने अपने भौतिक जीवन की ओर देखकर निम्नलिखित कहा है :—

पहले जीव की कल्पना होती है, फिर भौतिक और मानसिक भावों की। कल्पित जीव की जैसी विद्या होती है वैसी ही उसकी स्मृति होती है।+

इसमें भौजिक जीवन की सत्ता को स्वतन्त्र नहीं माना गया है। मध्यकालीन जीवन में मनुष्य की सबसे बड़ी असमर्थता यह थी कि वह अपने को समस्त सृष्टि का केन्द्र समझा करता था। उसके सामने भौतिक जगत की उत्पत्ति केवल मानव के लिये हुई थी। अतः एक ओर जब इस कारण से वह सब कुछ मनुष्य की चेतना से ही बाँधता था, तो दूसरी ओर वर्गीय जीवन का भी अपने सापेक्ष रूप में प्रबन्ध पड़ता था। वैभव की ओर देखकर जलने वाले तब काफी लोग थे। उनको समाज की विषमता में ज्यों का त्यों रखना भी एक व्याख्या चाहता था। किंतु परिस्थिति बदलने के साथ परिवर्त्तन उपस्थित हुआ।

रामानुज के अनुसार 'जीवों और जगत की स्वतन्त्र सत्ता है पर उन्हें ईश्वर से वियुक्त नहीं किया जा सकता, वे ईश्वर के ही अङ्ग हैं, शरीर हैं, कभी पृथक न होने वाले विशेषण हैं। ईश्वर उनका विशेष्य और आधार है। रामानुज के दर्शन में द्रव्य और गुण सापेक्षिक शब्द हैं।×

रामानुज ने मनुष्य चेतन से तो प्रकृति को अलग मानने की ओर इङ्गित किया, किंतु ईश्वर के रूप में उसने उसको सीमित किया और ईश्वर से जीव को बाँधा। किंतु शङ्कर की तुलना में रामानुज ने जीव को स्वतन्त्र सत्ता दी। शङ्कर के सामने प्रश्न था कि वह बौद्ध शून्यवाद द्वारा उत्पादित वह व्यवस्था समाप्त कर सके जो कि वेद सम्मत जीवन को कोई महत्त्व नहीं देती थी। बौद्ध चिंतन यद्यपि समाज के पौरोहित्य के नेतृत्व के लिये ब्राह्मण वाद का विरोध करता था, किन्तु अपने सामाजिक जीवन में वह कथनी करनी में बड़ा भारी भेद रखने वाला एक विषम विश्वास था, जो शून्य का आधार लेकर भी लौकिक और परमार्थिक का भेद करके अपने लिये अलग पौरोहित्य रखने की चेष्टा

+ दर्शनशास्त्र का इतिहास पृ० ३७५

× वही पृ० ४३७-४३८

किया करता था। शंकर को उपनिषदों का ब्रह्म मिला था। वह ब्रह्म अपने विकास में मनुष्य की व्यापकता बन कर आया था। किंतु शंकर के युग तक उसका तात्पर्य पुराने देवताओं की उपासना के संकुचित क्षेत्र से बढ़कर सृष्टि के रहस्य को अज्ञात कह देना भर नहीं रह गया था। शंकर के समय में वह ब्रह्म उस सारे बौद्ध शून्यवाद को खा गया क्योंकि समाज को इसकी आवश्यकता थी। यद्यपि रामानुज की तुलना में शंकर प्रतिक्रियावादी दिखाई देते हैं, किंतु हमें शंकर की तुलना उनके बाद के युग के व्यक्ति से न करके, उनको समझने के लिये उनके पहले के लोगों से उनकी तुलना करके देखना चाहिये। और इस तुलना में अपने युग के अनुसार शंकर को एक ओर हम ब्राह्मणवाद का प्रकारांतर से पुनरुत्थान करने वाला देखते हैं तो दूसरी ओर हम उनकी प्रगति इसमें देखते हैं कि उन्होंने लौकिक और पारमार्थिक के भेद को दूर किया। उन्होंने समाज को यद्यपि एक अनिर्वचनीय ब्रह्म दिया, माया को जड़ कहा, और कर्मवाद को ही स्थापित किया, किन्तु उनसे पहले ब्रह्म के स्थान पर शून्य था, और शेष विषम जीवन की जगह शाक्त संभोग था, जिसने चमत्कारवाद को तन्त्रमन्त्रों की रूढ़ियों में पटक कर सड़ा रखा था। धर्मकीर्त्ति, दिङ्नाग, आदि मध्यम कोटि के विचारकों की शंकर ने धज्जियाँ उड़ा दीं और यद्यपि उनका दर्शन आज के युग में प्रतिक्रियावादी है, किंतु उस युग के विकल समाज में शङ्कर ने समाज की जो सामंतीय व्याख्या की, अपने युगानरूप व्याख्या की। उसके द्वारा उन्होंने समाज में एक नई चेतना फूँकी। उनके ब्रह्म और जगत् के बीच 'ईश्वर' की सत्ता थी जिसके द्वारा शङ्कर ने 'ब्राह्मणवाद' का समर्थन किया। किंतु वही ईश्वर रामानुज के हाथों में भक्ति का साधन बना, जिसके द्वारा ठोस सामाजिक परिवर्त्तन संभव हो सके। सामंतीय जीवन में जिसकी गुंजायश थी, या जो निम्नवर्ग के स्वर का प्रतिनिधित्व करता था, वह वैष्णव मत भी इस भक्ति के माध्यम से अपना विकास कर सका और उसने दलित जीवन में चेतना फूंकने का प्रयास किया। इस प्रकार मनुष्य ने नई व्याख्या की और उसके लिये सदैव उसे नया ही समाज मिला, जिसकी कि परिस्थितियाँ बदली हुई थीं। परिस्थितियाँ बदलने का कारण सामाजिक होता है और वह भौतिक जीवन से संबंध रखता है।

'पूर्व में मध्ययुग में और तदनन्तर भी दार्शनिक पैदा होते रहे, धर्मगुरू पैदा होते रहे, धर्म और दर्शन पर वाद-विवाद भी होते रहे— किंतु वे सब एक बंधन को मानकर चलते थे—वह यह कि प्राचीन शास्त्र प्रमाण हैं—अतः उनके विवाद प्राकृत जीवन और प्राकृत लोक से दूर शब्दों की तोड़-फोड़ और उनका अर्थ अनर्थ करने तक ही रह जाते थे।*

यह है समस्त मध्ययुग के चित्र का सारांश। किंतु विद्वान लेखक ने उस पक्ष को नहीं लिया जो शास्त्र का भी वैविध्य प्रगट करता है और विभिन्न शास्त्रों के प्रति अनुराग, विभिन्न सामाजिक स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने वाली बात है।

यह गतिरोध जो समाज को क्रमशः शनैः शनैः विकास की ओर प्रेरित या विवश करता था, वह उसके उत्पादन के साधनों के बहुत ही धीरे बदलने के कारण था। हमारा भारत तो बहुत प्राचीन है। उसकी प्राचीनता इतनी प्राचीन है कि जो यूरोप में प्रागैतिहासिक है वह हमारे यहाँ इतिहासगत ही दिखाई देता है। यूरोप में फिलिस्तीन और क्रीट बहुत प्राचीन माने जाते है।

फिलिस्तीन ३००० ई० पू० और क्रीट २००० ई० पू० जैतून का तेल और शराब मिस्र को भेजते थे।+

किंतु भारत में मोहनजोदड़ो का समय ईसा के ३५०० वर्ष पूर्व तो ऐसा माना जाता है कि एक सभ्यता अपना काफी विकास कर चुकने के बाद अपनी अवनति की ओर आगई थी। जब हम किसी की अवनति की बात करते हैं तो उसके साथ ही हमें यह भी सोचना चाहिये कि अवनति एक उन्नति के साथ आती है, और उन्नति धीरे-धीरे विकास करके आती है। अभी तक विस्तार से ऐसे प्रमाण नहीं मिल सके हैं कि उस प्राचीनकाल में क्या था। मैंने अपने अनुसंधान तथा शोध कार्य में अन्यत्र उसके विषय में जो कुछ प्राप्त हो सका है उसे एकत्र किया है। उससे यही सिद्ध हुआ है कि भारत में उत्पादन के साधनों का बहुत ही क्रमशः विकास हुआ। यूरोप की भाँति भारत का इतिहास छोटा नहीं है।

---

* मानव की कहानी रामेश्वर गुप्ता, १९५०, भाग २ पृ० ६८०

+ प्रोग्रेस एण्ड आर्कियोलोजी, वी० गोर्डन चाइल्ड पृ० २३

यूरोप में ईसामसीह से लगभग २०० वर्ष पूर्व हमें स्पार्टाकस नामक दास का स्वामी वर्ग के विरुद्ध विद्रोह मिलता है। भारत में ऐसा नहीं मिलता। यद्यपि स्पार्टाकस ने विद्रोह किया किन्तु दास परस्पर एकत्र नहीं हो सके और दास प्रथा भी नहीं टूट सकी। असल में उस समय की दास प्रथा उस समय के उत्पादन के साधनों का परिणाम थी। कई वर्ष बाद ईसा के उपदेशों के माध्यम से इतिहास ने तत्कालीन अवस्था के अनुरूप एक नयी व्याख्या निकाली जिसने जातियों का विद्वेष और दास प्रथा दोनों को ही मिटाया। अपने यहाँ हम इसी प्रकार की परिस्थिति की समता देखते हैं। अंगरेजों के विरुद्ध भारतीय क्रान्तिकारियों ने आदर्श बलिदान देकर जाति को जगाया, किंतु जनता गांधी के साथ ही चली। इसका कारण भी यही था कि गांधी के उपदेश जातिगत जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल थे और जाति जिस सामजिक आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थिति में थी, उससे वे अधिक तादात्म्य में थे।

मध्यकालीन यूरोप में सामन्तवाद के विरुद्ध फ्रान्स में रक्त क्रान्ति हुई। रूस में पूंजीवाद के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति सफल हुई। इन दो घटनाओं ने संसार को नयी दिशा में मोड़ा। भारत में ऐसी क्रांतियों के चिह्न नहीं मिलते। यहाँ लोक गीतों और लोककथाओं में ऐसा तो मिलता है कि नीमाज के दर्जियों ने राजा के अतिचार से ऊब कर विरोध किया, काश्मीर के किसानों ने कायदे से ज्यादा फसल का हिस्सा छीन लेने पर प्राण त्यागे, मेवात के किसानों ने भरतपुर के महाराजा किशनसिंह के नाज मांगने पर घोर विरोध करके नाज के बदले पुरानी परम्परानुसार रुपया ही लगान में भरा, परन्तु ये घटनायें रियायतें मांगने की परम्परा में रही हैं। इनमें सत्ता को पलट देने वाले सिद्धान्त नहीं मिलते।

हम यह नहीं कहते कि भारत में वर्ग संघर्ष था ही नहीं। हम तो यह कहते हैं कि यूरोप में प्रायः जो दिखाई देता है, विकास क्रम में प्राचीन काल में यहाँ भी था। परन्तु वह सब इतना प्राचीन हो गया कि केवल उसका सुन्दर स्वरूप ही जन परम्परा में गौरवान्वित होकर अवशिष्ट रह गया। उदाहरण के लिये राम के पहले मांधाता राजा ने अश्वमेधों की लूट से इतना धन

जमा कर लिया था कि उसने अपनी प्रजा से कर लेना छोड़ दिया था। राम के समय में शूद्र का बध करने की प्रणाली थी। राम के भाई भरत को ब्राह्मण लोग सिंधु तट पर एक, असुर के राज्य को नष्ट करवाने ले गये थे, क्योंकि वह धनी था। उसकी भूमि उपजाऊ थी। कृष्ण के समय में रोम की ग्लैडियेटर जैसी व्यवस्था थी। कृष्ण को स्वयं लड़ना पड़ा था जब वे कंस की सभा में गये थे। भीम को विराट राजा जानवरों से लड़ा कर देखता था। ग्रीस और रोम की सी जनता किसी समय यहां थी या नहीं विचाराधीन प्रश्न है। मुझे लगता है थी। एक तो जो प्राचीन भित्ति चित्र मिले हैं वे स्त्रियों के और पुरुषों के नग्न शरीरों को काफी दिखाते हैं और यक्षीमूर्तियों में तो 'योनि' को भी दिखाया जाता है; दूसरे साहित्य में भी इसके उल्लेख हैं। महाभारत में उल्लेख है कि गङ्गा का उत्तरीय उड़ते ही उसका अनिंद्य यौवन निरावरण हो गया था, जिसे देख कर काम भी मोहित सा हो गया था। प्राचीन साहित्य में स्त्री पुरुष के यौन सम्बन्धों के विषय में आधुनिक लेखकों की सी विकृति और घुटन नहीं है। उसमें यथार्थ और आनन्द है और सम-भोग की बात है। एक ओर के आनन्द की नहीं। यहाँ मैं एक बात और कह दूँ। काशीप्रसाद जायसवाल यक्षी मूर्तियों की नग्नता देखकर उसे भारत में विदेशी प्रभाव मानते थे। ऐसा सोचना उनकी भूल थी। यक्ष भारतीय थे और वेदों में वे पूज्य या भयावने माने गये हैं। अर्थात् वे बहुत प्राचीन हैं। उनको विदेशी विदेशी मानना अनुचित है। ईसा के पूर्व की शताब्दियों में उनके चित्र प्राप्त होना यह नहीं बताता कि वे विदेशी थे। ईसा से पूर्व ही बुद्धकाल में चैत्य पूजा और यक्ष पूजा प्रचलित थी। महाभारत में मगध में जरासंध के शासन में ही यक्ष मचक्रुक की पूजा का उल्लेख है। यक्ष समाज की अपनी परम्परा थी जिसमें सबसे अधिक नग्नता थी। यक्षी को तभी अपनी शृङ्गार-सज्जा में 'योनि' को भी छिपाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। योनि को सहज जननेन्द्रिय माना था। उसके साथ भोग की—शोषणाधिगत मनोवृत्ति नहीं जुड़ सकी थी। वह जननी की वस्तु थी। अतः उसमें लज्जा का बोध नहीं था। वह आनन्द का भी माध्यम थी। उसी की देखा-देखी तन्त्र में 'त्रिकोण' का प्रचलन हुआ और कालान्तर में भारत में योनिपीठों की उपासना भी हुई।

मेरी राय में तो समस्त वामाचार का चिन्तन यत्तों से ही उतरा और भारतीय चिन्तन में अन्तर्भुक्त हो गया। तो भारतीय समाज में नग्न रहने के भी रूप प्राप्त होते हैं। 'हितायराओं' की भाँति भारत में भी उच्चस्तरीय नगर-वधुएँ या वेश्याएँ होती थीं। यहाँ भी किसी समय देवता पर समर्पित देवदासियाँ होती थीं! कहने का तात्पर्य है कि भारत में इङ्गित प्रायः उन सबके मिलते हैं जिसे यूरोप में प्राचीनता का चिह्न माना जाता है। किन्तु यह इतने प्राचीन काल की घटनाएँ हैं कि वे यूरोप की कल्पना से पुरानी हैं। यूरोप की पौराणिक गाथायें जिस कल्पना लोक को जाग्रत करती हैं, वह सब हमारे इन्द्र आदि में हैं जो बहुत अधिक अच्छा है और बहुत अधिक पुराना भी है। केवल क्रमशः एक बहुत लम्बे समय में उसका विकास होता रहा। बुद्ध के समय में हमें भारतीय समाज के प्रायः वे दर्शन मिलते हैं जब दासोंकी उन्नति से समाज में बड़ा मानवीय वातावरण छा रहा था और सामन्तीय जीवन आगे बढ़ रहा था। यह बहुत आगे की ही तो अवस्था थी। उस तक यूरोप उस समय कहाँ पहुंचा था? नहीं पहुँचा था। वहाँ तो दास प्रथा भयानक रूप से विद्यमान थी और इसीलिये वहाँ के लोगों को पिछड़ा हुआ जानकर भारतीय उन्हें म्लेच्छ या इसी प्रकार के नामों से पुकारते थे, जिससे स्पष्ट उनका तात्पर्य था कि वे उनसे कहीं अधिक सभ्य और सुसंस्कृत अवस्था में आ गये थे। भारत में तो उस समय वैष्णवमत अपने भागवत सम्प्रदाय के साथ प्रचलित हो रहा था। इसे न समझकर एक यूरोपीय विद्वान ने कहा है कि: 'प्राचीन संस्कृत जिसमें यह (ऋग्वेद) लिखा गया शीघ्र ही अपना अर्थ महत्त्व खो बैठा अर्थात् लोग उसका असली मतलब भूल गये और भारतीय मध्यकाल तक प्राचीन 'शब्दों' का अर्थ समझाने के लिये टीकाएँ लिखी जाने लगीं—उसमें कभी-कभी तो रूपक के रूप में मतलब निकालने की चेष्टा की गई है, असली मूल अर्थ का गलत अर्थ लगाया गया है।,१

इस विद्वान को शीघ्र शब्द का प्रयोग करते समय तनिक भी भाषा-विज्ञान का ज्ञान नहीं हुआ। वह यह भूल गया कि भाषा शीघ्र ही अपना महत्व नहीं

१. प्रिहिस्टौरिक इण्डिया. स्युअर्ट पिगट—पृ० २५७. १६५०.

खो बैठती। उसे भूलने के लिये एक लम्बे काल के व्यतीत हो जाने की आश्यकता होती है।

इस प्रकार के लोगों में अनधिकार व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जाता। इसी प्रकार की गड़बड़ उस समय भी होती है जब कोई व्यक्ति अपनी हीनत्त्व की भावना के अन्दर पड़ कर मन में बिसूरने लगता है और या तो अपने को, अपनी जाति को महान बनाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है, या दिल के फफोले फोड़ता है। यह चिन्तन जो वस्तु को विकृत करके स्वार्थ साधता है उसका भी एक उदाहरण प्रस्तुत करना यहाँ आवश्यक है जैसे: जैमिनी रचित पूर्व मीमांसा में बदरी का ऐसा मत है कि शूद्र यज्ञ का अधिकारी है, उद्धृत है। भारद्वाज श्रौत सूत्र में (५–२८) कहा गया है कि यह भी मत है कि शूद्र यज्ञ में तीन अग्नि जला सकता है। इसी प्रकार कात्यायन श्रौत सूत्र में भी टीकाकार ने कहा है कि कुछ वेद-मन्त्रों के अनुसार शूद्र को भी वैदिक संस्कार का अधिकार है।[१] यह सब कहने के बाद श्री अम्बेडकर निष्कर्ष यह निकालते हैं कि भारत के शूद्र मूलतः क्षत्रिय थे। ऐसा वे क्यों कहते हैं? क्योंकि उनकी हीनत्त्व की भावना अभी तक उन पर हावी है। वे अपने मन के भीतर अभी तक यह समझते हैं कि ब्राह्मण या क्षत्रिय होना असल में बड़े गौरव की बात है। वे कुछ इन्हें ऊँचा समझते हैं। यशपाल ने अपनी यज्ञोपवीत की उपभोगिता वाली कहानी में इस पर बड़ा अच्छा व्यंग्य कसा है। माली लोग अपने को पुष्पध ब्राह्मण कहते हैं और रावण के नाना सुमालिन् के ब्राह्मण वंशज बनते हैं। असल बात तो यह है कि ये बिचारे दलित रहे हैं और ऊपर उठने का अर्थ इनकी बुद्धि में ब्राह्मण, क्षत्रिय हो जाना है। वे यह नहीं जानते कि ब्राह्मण, क्षत्रिय होना कोई कमाल नहीं है। एक समय था जब दास प्रथा थी। उस दास प्रथा के अन्त के समय जो दास मल इत्यादि उठाते थे, वे अलग ही जाति समूह बन गये—यही अछूतों का प्रारम्भ है। हम यह नहीं कह सकते कि यह अछूत परम्परा आर्य्यों ने चलाई। हो सकता है अनार्य्य दास प्रथा में ही यह प्रचलित हो जब दास प्रथा टूटी तो विभिन्न पेशों के लोग अपने-अपने श्रम विभाजन और जाति

१. शूद्रों की खोज, बी. आर. अम्बेडकर—पृ० ४४–४४.

के महत्व के अनुसार अलग-अलग जाति-समूहों में विभाजित हो गये। उसमें कई क्षत्रिय जातियाँ भी पेशे के हिसाब से शूद्रों में मानी जाने लगीं।

रहा जैमिवी, बदरी आदि के इन उल्लेखों का महत्त्व। यह सब महाभारत युद्ध के बाद के समाज में हुये। जिसमें दासप्रथा क्रमशः समाप्त हो रही थी और शूद्रों और दासों को अधिक अधिकार मिल रहे थे। उस समय विभिन्न आचार्यों ने अपने अपने समय के अनुकूल ही उन शूद्रों के अधिकारों को लिखा है।

शूद्रों का तो इतना अधिकार बढ़ गया था कि वे तत्कालीन भारत के सबसे बड़े साम्राज्य-मगध-के स्वामी थे। बाद में सामंतीय जीवन के उदय के विकास के साथ ब्राह्मण-क्षत्रिय संगठन हुआ और फिर मगध में शूद्र को हटा कर—नंद वंश के स्थान पर ब्राह्मण क्षत्रिय परस्पर सत्ता के लिये संघर्ष करते रहे। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि नन्द वंश के समय में भी मगध में जाति प्रथा थी। मगध में चंद्रगुप्त मौर्य्य ने जाति प्रथा को चलाया नहीं था। वह पहले से मौजूद थी। समाज के विभेद उस समय भी उपस्थित थे। और जातियाँ पेशों के अनुसार बँटी थीं। उनमें शक्ति के लिए निरंतर संघर्ष हो रहा था और कालांतर में उन्हें उच्च वर्णों ने हरा दिया। किंतु हराने का अर्थ यह नहीं हुआ कि उनके सारे अधिकार छीन लिये जा सके।

वैष्णवमत एक नयी मानवतावादी व्याख्या लेकर आया था। उसने सामंतीय समाज में रियायतों का द्वार खोला। मनुष्य ने बावजूद वर्गों की स्थिति में रहते हुये, अपने उत्पादन के साधनों के द्वारा प्रभावित, संचालित होते हुए, वर्गीय जीवन में पारस्परिक संबंधों में उत्पादन के साधनों की तद्गत विषम शील व्यवस्था में रहते हुए भी, दासप्रथा के अन्त में मानवीय एकता को समझा और जब बौद्ध चिंतन ह्रासकालीन दास प्रथा में गणों के क्षत्रियों के लिये ब्राह्मण विरोधी समानांतर पौरोहित्य खड़ा करते हुए दासों को दबाये रखने का शस्त्र बना रहता था, वाह्य भौतिक जगत को परिवर्त्तन शील कहकर शोषण पर अंकुश रखने वाले परमेश्वर के भय और आत्मा के दुखी होने के भय को भी हटाकर कुलीन क्षत्रियों को एक न्याय्य आधार देने की चेष्टा करता हुआ दूसरों के बल पर पलने वाले मुण्डित भिक्षुओं की भीड़

खड़ी कर रहा था; ब्राह्मणवाद अपने स्वार्थों के प्रति जागरूक, अपनी वर्त्तमान हीनाधिकारगत अवस्था में अतीत के गौरव के प्रति रोता हुआ, किसी तरह अपने को जीवित रखने के लिये, समाज में शोषितों को रियायतें दे रहा था। विष्णु के मन्दिर में ब्राह्मण क्षत्रिय और चाण्डाल कंधे से कंधे भिड़ा कर चल सकते थे। वहाँ कोई बंधन नहीं था। ब्राह्मण दूसरों के देवताओं को अपना देवता कहता था। ब्राह्मण भी अन्यों पर पलता था, पर वह पढ़ाता था, ज्योतिष संभालता था, और विवाहादिक कराके समाज का कल्याण करता था। उसने अपने वर्ग के स्वार्थ के लिये अपने को खूब उठाया भी। इतिहास बताता है कि जब भी उसे मौका मिला, उसने शोषण किया, किंतु जब उसके अधिकारों पर चोट आई उसने अपने को बचाने के लिये रियायतें भी दीं। हमें तो निष्पक्ष होकर सोचना चाहिये। इतिहास चलता है। उसके साथ समाज और वर्ग भी चलते हैं! हमें उन सबको उनकी गत्यात्मक अवस्था में देखना चाहिये। एक वर्ग या जाति के विषय में कोई खास तरह की धारणा नहीं बनानी चाहिये।

मेरे इस विश्लेषण से कुछ लोग इसलिये खिन्न हो जाते हैं कि उन्हें गौतम बुद्ध के प्रति बड़ी श्रद्धा है। मैं बुद्ध की महानता को मानता हूँ किंतु बुद्ध के वचन ही नहीं, हमें उन वचनों को समाज के साथ रखकर देखना चाहिये। उनकी क्रिया प्रतिक्रिया को देखना चाहिये। इतिहास का कायदे से अध्ययन न करके यही गड़बड़ी अक्सर होती है और साहित्य में भी हम गलत नतीजों पर पहुँचते है। जब तक हम इतिहास को ठीक से नहीं समझते तब तक साहित्य को तो समझ ही नहीं सकते। इसीलिये उसको समझना अत्यन्त आवश्यक हैं।

विदेशी लेखक भारतीय चिंतन को ठीक से समझते नहीं और दिमागी गुलामी से आतंकित भारतीय अधकचरे पढ़े लिखों को जहाँ कोई विदेशी भारत के बारे में बात करता मिलता है वहीं वे आश्चर्य्य से मुँह फाड़ देते हैं। किसी विदेशी से कहा जाये कि तुम्हारे देश के बारे में एक भारतीय ने ऐसा कहा है, तो तुरन्त वह कहेगा—कि भारतीय हमारे देश के बारे में क्या जाने किंतु भारतीय मस्तिष्क तो कुछ दब गया है। उसे यह विचार नहीं रखना

चाहिए कि जो कुछ भी भारत के विषय में विदेशी कहता है वह सब ठीक है, या सब गलत है। दोनों का विवेचन करके ठीक के लिये उसकी प्रशंसा और गलत के लिये उसका सुधार करना चाहिये।

बुद्ध के बारे में उनका आत्मा और परमात्मा को न मानना बहुत बड़ी बात मानी जाती है। हम अन्यत्र इस विषय पर विस्तार से लिख चुके हैं। किन्तु एक बात यहाँ कहना आवश्यक है। प्राचीन और मध्यकालीन जीवन में जहाँ कोई इन दोनों को नहीं मानता, वहाँ हमें उसके अन्य विश्वासों को देखना चाहिये। २५०० वर्ष पूर्व के बुद्ध के बारे में यह ग़लतफ़हमी नहीं होनी चाहिये कि वे आधुनिक थे। भूतपिशाच को मानने वाले बुद्ध काफ़ी पुराने किस्म के ही आदमी थे। अन्यत्र मैं बता चुका हूँ कि बुद्ध का पुनर्जन्म को मानना और ब्रह्म और आत्मा को न मानना क्षत्रिय स्वार्थ को सिद्ध करने वाली बात थी। बुद्ध अनात्म के साथ अभौतिकवादी भी थे, यह उनका भीषण विरोध था और यही कारण था कि बौद्धमत शीघ्र हीनयान से सामंतीय व्यवस्था के अनुरूप रूप बदल कर महायान बन गया। दास प्रथा से जर्जर समाज में जहाँ निर्वाण कठिन था, क्षत्रिय दुखी था, वहाँ सामन्तीय जीवन के विकासशील युग में बौद्ध पौरोहित्य को भी निर्वाण सहज कर देना पड़ा और जैसे अन्य पौरोहित्यों का हुआ बौद्ध भी धन एकत्र करने लगे। एक समय तो बौद्धों के मठों, विहारों में यूरोप के पोप और कार्डिनलों जैसी राजनीतिक शक्ति एकत्र थी जिससे राज्यों के जीवन को नचाया जाता था। ब्रह्मचर्य्य के केन्द्र इन विहारों में वाममार्गी प्रवर्त्तनों में पड़कर जितना व्यभिचार या कहें युगनद्ध रमण हुआ उतना देवदासियों वाले मंदिरों में भी नहीं हुआ, क्योंकि जहाँ प्रतिबन्ध होता है वहीं तृष्णा भी अधिक होती है। बुद्ध के बाद के २०० बरसों का ब्रह्मचर्य्य जब अपनी सीमा को लाँघ गया तो २०० बरस का स्तंभन १००० वर्ष तक स्खलित हुआ, जब अन्ततोगत्वा एक ओर शंकराचार्य्य और दूसरी ओर गोरखनाथ ने उसे फिर उखाड़कर ही छोड़ा। उन्होंने बौद्धिक पक्ष में पराजय दी। मुसलमानों ने उनके विहारों आदि को लूटा, क्यकि उनमें असंख्य धन था। मुसलमान भी ठीक ही थे। उनका कहना था कि संसार त्यागी भिक्षुओं को धन की क्या जरूरत। और ब्राह्मण विरोधी बौद्ध और

अवैदिक शैव बहुतायत से मुसलमान होते चले गये। ब्राह्मणों के शोषण का सहना उनके लिये असंभव था।

यह है बौद्ध मत का विकास और पल्लवन। किन्तु विदेशियों ने इसे नहीं समझा। उन्होंने इसके ऊपरी सिद्धान्तवाद को पकड़ा कि इसमें जातिवाद नहीं था। यह एक सिद्धान्त की बात थी, व्यवहार की नहीं। बुद्ध के मरने पर मल्लों से क्षत्रियों ने शास्ताबुद्ध के अस्थ्यावशेष इसीलिये माँग-माँग कर कब्रें (स्तूप) बनाईं थीं, जो कि अनार्य्य परम्परा से (पिरामिड तथा मोहन जो दड़ों से) क्षत्रियों में आई थी, कि वे भी खत्तिन (क्षत्रिय) थे और बुद्ध भी खत्रिय (क्षत्रिय) ही थे। गणों के ब्राह्मण भी गणों के क्षत्रियों के समान ही थे। बुद्ध के प्रारम्भ के अनुयायी अधिकाँश शाक्य ही थे, उसी गण के थे, जहाँ के एक चुने हुए राजा का पुत्र बुद्ध त्यागी हो गया था।

रूसी विचारकों ने उसी एकांगी पक्ष को समझा जिसमें बुद्धवाणी बड़ी प्रभावशाली दिखी। श्वेर्वास्की ने घोर प्रशंसा की, फिर बरान्निकोफ़ ने। आधुनिक प्रगतिशील कहलाने वाले विचारक भारत में फिर कैसे चुप रहते? उन्होंने लकीर पीटी। ऐसे ही एक किसी द्याकोफ़ ने गांधीवाद की अनर्गल व्याख्या की थी। बरान्निकोफ ने महाभारत के रूसी अनुवाद के साथ एक भूमिका लिखी है। उसका अध्ययन भारतीय साहित्य के लिये आवश्यक है।

बरान्निकोफ़ के अनुसार कमकर और व्यापारी विद्रोह, अपने को स्वतन्त्र करने का आन्दोलन ही बौद्ध और जैनमत के रूप में प्रस्फुटित हुआ जिसने ब्राह्मण सत्ता को चुनौती दी। इन निम्न जातियों ने ब्राह्मणों के सर्वाधिकारों का विरोध किया। किसान आन्दोलन ने धार्मिक रूप धारण किया जैसा कि सदैव भारत में होता रहा है।

यह कितना एकांगी और अज्ञानता का परिचायक विवेचन है इसे फिर कहने की क्या आवश्यकता है?

जैन चिन्तन प्राचीन अनार्य्य चिन्तन था जो वैदिककाल में भी था और कालान्तर में विकास करते-करते महावीर तक आया। बौद्ध चिन्तन पुराने कई दर्शनों का क्रम-विकास में सार रूप था। जैन चिन्तन और बौद्ध चिन्तन की बुनियाद ब्राह्मण विरोधी थी, किन्तु इतना ही कहना तो काफ़ी नहीं हो जाता

वस्तु को पूरी तरह देखना आवश्यक है। उसका दूसरा पक्ष क्या था? बौद्ध क्षत्रिय पौरोहित्य बना रहे थे। जैनों में व्यापारीवर्ग बढ़ रहा था। जहाँ ब्राह्मण सर्वाधिकारों को चुनौती दी जाती हुई देखने वाले ये विद्वान अपना विवेचन करते हैं वहाँ वे यह भी क्यों नहीं कहते कि—

१—उपनिषदों में ही समान आत्मा के सिद्धान्त ने दास प्रथा के टूटते रूप को चित्रित किया। वह चिन्तन ब्राह्मणों और क्षत्रियों का ही था।

२—ब्राह्मण पौरोहित्य ने महाभारत में किस व्यापकता से विभिन्न जातियों को उनके धार्मिक विश्वासों के साथ अपने समाज में अन्तर्भुक्त करके मनुष्य और मनुष्य के बीच की सीमा को तोड़ा। उस समय आजके युग की समानता की खोज करना क्या भूल नहीं है?

३—इस व्यापकता ने समाज में जिन मानवतावादी धारणाओं को जन्म दिया क्या वे ही भक्ति के रूप में आगे चल कर जन समाज की शक्ति नहीं बनीं?

किन्तु इन सब को तो वह देखे जो जाने।

हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि भारतीय इतिहास में ही साहित्य के मर्म का ज्ञान दिया हुआ है। उसे देशकाल से अलग करके देखना अनुचित है। रही शास्त्र के प्रामाण्य की वह बात जिसके प्रति मध्यकालीन साहित्य में इतनी रुचि दिखाई देती है। शास्त्र पुरातन ज्ञान होता है। उसके प्रति भारत ही में क्यों अन्यत्र भी अनुराग मिलता है।

रेखटाग के उस सेशन से, जहाँ लूथर ने पोप के अधिकार का विरोध किया था और खुलेआम यह कह दिया था कि उसके सिद्धान्त का खण्डन 'शास्त्र और तर्क' के आधार पर करना चाहिये, जर्मन में नया युग प्रारम्भ हुआ।[१]

भारतीय मध्यकालीन साहित्य में भी शास्त्र की दुहाई देकर ही परमात्मा के सामने समानता की दुहाई देने वाले भक्तों के हाथों में ही मानवतावादी संघर्ष अपना रास्ता बना सका था। वह मध्यकालीन बन्धनों की बात थी। किन्तु आधुनिक युग में जब राजनीति ने धर्म को बगल में छोड़ा तब अपना पथ दूसरी ओर बनाया। यूरोप में उसके अनेक संघर्ष हुए। मानवतावाद की

१. हेनरिख हेने, वर्क्स आफ प्रोज़ सं. हरमान केस्टेन, १६४३, पृ० ११७

परम्परा ने उठते हुए राष्ट्रीयतावाद के युग में भी अपने को व्यक्त किया था। राष्ट्रीयता का उत्थान प्रायः एक देश का दूसरे देश पर शासन था और उसमें निहित वर्गों का अपने लाभ के लिये लाभ भी था। जनता विभाजित थी। किन्तु मानवता के स्वर में यही मत सिद्धान्त हेने के अनुसार था : "जर्मन एकता और वैभव को स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र पर आश्रित होना चाहिये।" उसने एक-जर्मनी के सिद्धान्तवादी देश भक्तों से कहा था : "मैं तुम्हारे झंडे का सम्मान तब करूँगा जब वह उस सम्मान को पाने के योग्य होगा और अतिवादियों और लुच्चों के खेल का साधन नहीं रहेगा। अपने रंगों को आप जर्मन विचारों के उच्च शिखरों पर फहराइये, उन्हें स्वतन्त्रता के, मानव की स्वतन्त्रता का माप-दण्ड बनाइये और अपने रक्त की अन्तिम बूँद तक, मैं उनके लिये बहाऊँगा। × × जब हम क्रान्ति के विचारों को पूर्णतया फैला चुकेंगे, उनके अन्त तक फैला चुकेंगे, जब हम दासता को नष्ट कर चुकेंगे और उसे 'स्वर्ग' नामक उसके आश्रम में ढकेल देंगे (अर्थात् ईश्वर के नाम की छलना समाप्त कर चुकेंगे) जब हम धरती से दरिद्रता मिटा चुकेंगे, जब हम शोषित मनुष्यों को उनके जीवन का आत्म-सम्मान लौटा देंगे, उनकी बिखरी प्रतिभा और अर्द्ध जाग्रत सौन्दर्य्यबोध को जगा चुकेंगे—सभी सब कुछ हमारा हो सकेगा।......यही मेरी देशभक्ति है।"[२]

इस आन्दोलन के पीछे व्यक्ति और समाज का संघर्षण भी था। यहाँ हम देखते हैं कि हेने के युग में धर्म के उस स्वरूप का विरोध किया गया था जो कि उच्चवर्गों के शोषण का अस्त्र बन चुका था, जिसके द्वारा वह जनसमाज को भुलावे में डाले रखता था।

मध्यकालीन आन्दोलन धर्म को किसी विशेष वर्ग के हाथ में शोषण का अस्त्र बनते देखकर, धर्म के ही एक नये आन्दोलन से उस शोषण का विरोध किया करते थे और उसका अन्त करने की चेष्टा किया करते थे। किन्तु धर्म का मूल रूप बनाये रखने की चेष्टा किया करते थे। क्यों कि उनकी युग-सीमा यही थी। वे वाह्य आवरणों को मूल से अलग करके देखते थे और यही उनके परिवर्तनहीन जीवन का वैषम्य था कि वे उस लक्ष्मण-रेखा को लाँघ नहीं पाते

---

२. हेने—फ्रेंकाइज फेज टो—हेनरिख हेने की जीवनी, पृ० २२८

थे। भारतीय परम्परा में गांधी ने भी इसी पद्धति को अपनाया था और इसी-लिये मध्यकालीन वातावरण में ही रहने वाली अधिकांश जनता ने उसके स्वर को अपनाया था। इसी पद्धति को गांधी ने अर्द्ध-राजनीतिक रूप दिया क्योंकि वह उसके युग की माँग थी, जिसके बिना उसका आन्दोलन अपना प्रभाव भी नहीं डाल सकता था। किन्तु भारतीय जीवन में उसकी सामाजिक व्यवस्था केवल राजनैतिक तत्त्वों से निर्मित नहीं थी। जाति व्यवस्था उसकी सामन्तीय परम्पराओं के अवशेष के रूप में अवस्थित थी। गांधी ने उस पक्ष को पकड़ा और यही कारण था कि गांधी ने सर्वाङ्गीण परिवर्तन की सूत्रना का प्रारम्भ किया था! उसने इसी मानवतावाद के समन्वयवादी पक्ष को ग्रहण किया जिसकी कि जड़ें भारतीय समाज में पहले से विद्यमान थीं। यह परम्परा एक समय में अपने प्रारम्भिक रूप में मानवीकरण की व्यापकता से प्रारम्भ हुई थी तभी ग्रीस के विषय में कहा है: यूरेनस, निकस, हिप्नौस, और ओनिरोस (स्वर्ग, रात्रि, निद्रा, और स्वप्न) व्यक्ति हैं, जिस प्रकार कि जियस और अपोलो। उन्हें केवल रूपक बना देना अनुचित और व्यर्थ है।[1]

ग्रीस के इतिहास के अध्ययन करने वाले विद्वान ने इस सत्य को पहचाना कि मानवीकरण की प्रवृत्ति ने ही दैवीकरण की पद्धति को एक समय पहँचान कर समाज को व्यापक आधार देने की चेष्टा की थी। मानवीकरण अपने वर्त-मान को जब आगे की पीढ़ियों में परम्परा के आधार पर समीचीकरण के सिद्धान्त को अपनाता है तब उसकी व्याख्या दैवीकरण की ओर अग्रसर हुआ करती है। दोनों का मूल एक ही है और इन दोनों की जड़ में गौरवान्वित करने की प्रवृत्ति ही नहीं, शास्त्र का अनुमोदन ही नहीं, नया पथ ढूँढने की मनोवृत्ति निहित होती है। उस मनोवृत्ति में तत्कालीन ज्ञान के समस्त समाधा नीकरण के साधन भी उपस्थित हुआ करते हैं। तभी मार्क्स ने इसकी व्याख्या यों की है: "मनुष्य और मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों के उलझन भरे स्वरूप को देखकर उनका मूल कारण खोज निकालने में असमर्थ होकर लोग उन्हें स्पष्ट करने के प्रयत्न में उनके विचित्रता पूर्ण रूप को प्रकट करने में उन्हें परम्परागत स्रोत या मूल कारणों के द्वारा परिचालित कहा करते थे।[2]

१. हिस्ट्री आफ ग्रीस, ग्रोटे, पृ० २   २. कैपीटल, कार्ल मार्क्स पृ० ६१

इनके अतिरिक्त एक यह सत्य भी है कि मूलतः मनुष्य का प्रयत्न सदैव यह रहा है कि वह शोषण न करे बल्कि दुनिया को अच्छा बनाये। मेरी बात सुनकर सम्भवतः यान्त्रिक कुत्सित समाजशास्त्री चौंक उठें ? नहीं। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पादन के साधनों द्वारा निर्मित सम्बन्धों में अपने स्वार्थों में मनुष्य वर्गगत स्वार्थों में पड़ा रहा है। किन्तु वह उसके समाज के तद्गत सम्बन्धों को न समझने के कारण था। वह उन सम्बन्धों से पैदा होने वाले सम्बन्धों में बँधा तो था, किन्तु समाज को बेहतर बनाना चाहता था। शोषक वर्ग को शोषित वर्ग की परिस्थिति सदैव इस ओर प्रेरित करती है कि वह अपनी सामाजिक व्यवस्था का न्याय प्रस्तुत कर सके। उसे जन बल के सन्मुख सदैव ही रियायतें देनी पड़ी हैं। अभी तक के इतिहास में, जब तक समाज के विकास का वैज्ञानिक विश्लेषण ज्ञात नहीं था, तब तक उच्च वर्ग स्वार्थी होकर भी अपनी सीमाओं में मजबूर भी था। अब का उच्चवर्ग जागरूक स्वार्थी है। पुरानों को आज का सा हम नितान्त जागरूक नहीं कह सकते। पुरानों में इसीलिये ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो शोषितों की ओर बोलते हैं। वे अच्छे व्यक्ति थे। उनकी अच्छाई में वह 'स्वेच्छा' थी जिसके पीछे उच्चवर्ग का ही यह रियायतें देने को तत्पर पक्ष था, जो उनके स्वर में अपनी वाणी की अभिव्यक्ति प्राप्त करता था।

ब्राह्मणवाद में ऐसे व्यक्ति बहुधा मिलते हैं, जिन्होंने उच्चवर्ग में से निकल कर निम्नवर्गों की बढ़ती शक्ति को स्वीकार करके रियायतें देने वाले उच्चवर्ग के तत्परपक्ष का प्रतिनिधित्व किया है। भक्ति का आन्दोलन इसी का पर्य्याय था जिसने कहा कि 'वेदानपि संन्यस्यतिकेवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।'—जो वेदों का भी भली-भाँति परित्याग कर देता है, और जो अखण्ड असीम भगवत प्रेम प्राप्त कर लेता है। (नारद भक्तिसूत्र. ४९)

इस प्रकार ब्राह्मण ने स्वीकार किया कि अपनी ऊँचाइयों में वेद भी मनुष्य के लिये आवश्यक नहीं है। यद्यपि यह मार्ग एक समय जन-बल के दबाव का प्रभाव ही था कि यह भी समाज में स्वीकार कर लिया गया कि मूलतः मनुष्य इन सब, वेद, उपनिषद आदि सबके ऊपर है, किन्तु व्यवहार में क्या हुआ ?

स्वेच्छा और समाज का सम्बन्ध यहाँ प्रकट होगा। मनुष्य की स्वेच्छा

होते हुए भी समाज की तत्कालीन व्यवस्था में उसकी परिणति, या प्रचलन, या फलन किस प्रकार होता है, यह यहाँ स्पष्ट हो जायगा, जिसके कारण यह भ्रम ही दूर हो जायेगा कि मैं कहीं यांत्रिक विश्लेषण तो नहीं कर रहा हूँ।

भक्ति की व्याख्या का रूप कहता है कि—

गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति
दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्त्यामनिवेदनासक्ति
तन्मयतासक्ति
परमविरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति। (नारद भक्तिसूत्र ८२)

अर्थात् यह प्रेमरूपाभक्ति एक होकर भी, गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति इस प्रकार ११ प्रकार की होती है।

भक्ति की यह परिस्थिति प्रकट करती है कि यह जो ऊंचाई है वह समाज गत नहीं है, व्यक्तिगत है। जो इस ऊँचाई पर पहुँचता है अर्थात् संसार की आसक्ति से दूर हो जाता है, वही इस अवस्था को प्राप्त कर जाता है और आदरणीय हो जाता है। यह है स्वेच्छा की सामाजिकता।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि यह समाज का रुख दो मुहाँ रहा है। इससे उच्चवर्ग ने व्यक्ति रूप में विद्रोहियों को छाँटा है और उनका सम्मान करके उनके उसी अंश को अपनाया है जिसकी नौंके उसके चुभी नहीं हैं। अर्थात् जितनी रियायतें देने के लिये उसे विवशता थी उतनी वह निरन्तर देता गया है।

भारतीय इतिहास में यह धीरे-धीरे रियायतें देने का क्रम बुद्ध के बाद से ही प्रारम्भ हुआ है। इसकी पृष्ठभूमि में समाज का वह अन्तभुंक्ति कालीन चिन्तन है जिसमें महाभारत युद्ध के बाद से बुद्ध तक के समाज की वह व्यापकता निहित है, जिसमें मनुष्य को मूलतः व्यापक भूमि पर देखा था। अपनी ईर्ष्या को हटा लेने का प्रयत्न किया था।

इस देश के इतिहास, इसकी संस्कृति के मोड़ इतने सूक्ष्म और इतने कोमल हैं कि उनका अध्ययन करना भी सहल काम नहीं है।

समाज की जिस विषमता में सांख्य दर्शन का जन्म हुआ वह हमारी संस्कृति के ज्ञात मोड़ों में से पहली है। सांख्य का जो प्राचीन रूप रहा होगा, यह तो निश्चय ही नहीं कहा जा सकता कि वर्त्तमान रूप उसी प्रकार का है, किंतु उसमें हमें खोजने पर विचार मंथन का वह सूत्र अवश्य मिलता है जिसने समाज की व्यवस्था को सुलझाने का प्रयत्न किया था।

सांख्य-जगत् के मूल तत्त्व प्रकृति का अनुमान सत्कार्यवाद पर निर्भर है। न्याय वैशेषिक के अनुयायी दोनों उत्पत्ति से पहले कार्य को असत् मानते हैं। सांख्य···असत्कार्य्यवाद का खंडन करके सत्कार्यवाद का स्थापन···करता है। ××× जो कहीं किसी रूप में नहीं हैं उसका आस्तित्व पा जाना, असत् से सत्य हो जाना, संभव नहीं है। गीता कहती है:

नासऽतो विद्यते भाव; नाऽभावो विद्यतेसत्ः।

अर्थात् असत् का कभी भाव नही होता और सत् का कभी अभाव नही होता।*

सत् असत् के मूल में प्रश्न था मूलतः जीवन और उसकी विषमता का। उसका जिसका हल उपनिषदों में खोजा जा रहा था, जिसके विवाद अश्वल-जनक की सभा में हुआ करते थे। विरक्ति सब कुछ को असत् कह कर त्यागे दे रही थी। यह विरक्ति उच्च वर्गों में भी थी। यही वह स्वेच्छा थी जिसके द्वारा व्यक्ति अपने असंतोष को प्रकट करता था। वह अपने स्वार्थों से ही लड़ने की भी चेष्टा करता था, किंतु उसमें सफल नहीं हो पाता था, क्योंकि उसके पास कोई और चारा नहीं था। विषमता की मर्यादा को यों बाँधा गया था।

यदि तेल उत्पत्ति से पहले असत् हो तो तिली से ही क्यों निकल सके, रेत में से क्यों न निकले? कार्य्य कारण में कुछ सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा। यदि कार्य्य को कारण से बिल्कुल भिन्न माना जाये तो उनमें कार्य्य-कारण संबंध क्यों हुआ यह बताना असम्भव हो जाता है। इसलिये किसी न किसी रूप में कार्य्य की उत्पत्ति से पहले सत्ता माननी चाहिये।×

बुद्ध ने भी कार्य्य कारण के संबंध को माना था। किन्तु उसकी पहले की

* दर्शनशास्त्र का इतिहास, देवराज, तिवारी पृ० २८८, १९५०

× वही पृ० २८६

सत्ता एक प्रवाह की ओर द्योतन करती थी, जिसका कोई आत्म अर्थात् व्यक्तित्व नहीं था। वह गण की व्यवस्था का प्रकारांतर से प्रभाव था। सांख्य में सत्ता की सत्ता को व्यक्तित्व भी मिला और उसे एक स्थिरता का रूप देने का भी प्रयत्न हुआ। इसका कारण राजसत्तात्मक व्यवस्था का ही प्रकारांतर से प्रभाव था। इन दोनों रूपों में ही दो व्यवस्थाओं का संघर्ष दिखाई देता है। दोनों की परिस्थिति की जड़ में विषमता का हल था। आखिर 'ऐसा' क्यों होता है? 'होता है' के पीछे कोई कारण दिखाई नहीं दे, तो वह क्यों हो? बौद्ध चिंतन ने कारण के दो रूप में परिवर्त्तनशील उस संघट्ट रूप कार्य्य प्रवाह से स्वीकार किया जिसका उत्तरदायित्व समाज में किसी व्यक्ति के प्रति नहीं था। सांख्य ने ऐसा न करके व्यक्ति को तो स्वीकार किया साथ ही सत्ता की व्याख्या करते हुए अन्त में वह नकारात्मकता में पहुँचा। सांख्य दो अतियों के बीच में था। वह स्पष्ट ही अभौतिक और भौतिक के संघर्ष के बीच की व्यवस्था थी।

सांख्य के बाद जैन अनीश्वरवाद और बौद्ध अनात्मवाद ने अपने रूपों में विशेष परिस्थितियों को प्रतिबिम्बत किया। किंतु बुद्ध के बाद चारवाक का मत उठ खड़ा हुआ जिसका मत लोकायत कहा जाने लगा।

धूर्त्त चारवाकों का मत है कि कोई आत्मा शरीर से अलग होकर नहीं रहता। चार तत्त्वों से बना होता है।

सुशिक्षित चारवाकों का मत है कि शरीर से अलग एक आत्मा होता है, जो कि निरंतर आनन्द लेता है, अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करता रहता है, परन्तु शरीर के साथ ही नष्ट होता जाता है। शरीर के नाश के बाद वह जीवित नहीं रहता और दूसरे शरीर में नहीं जाता।। अगर कोई ऐसा आत्मा होता जो पुनर्जन्म ग्रहण करता तो उसे अवश्य पुरानी बातें याद रहतीं।*

चारवाकों के अनुसार वेद प्रमाण नहीं है, वह कुछ चालाक पुरोहितों द्वारा लिखा गया है, उसमें विरोधाभास है; न मुक्ति है न पुनर्जन्म, न स्वर्ग है, न नरक, और चातुर्वर्ण्य को मानने से कोई फल नहीं मिलता। अपनी जीविका

---

* इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन फिलौसफी जदुनाथ सिन्हा, १६४६, पृ० २१

चलाने को धूर्त्तों ने यह सब नियम बना लिये थे।XX

चारवाक का मत भारतीय चिंतन में अपना विशेष स्थान रखता है। जिस संदेहवाद का प्रारम्भ युधिष्ठिर में हुआ, जो अश्वलजनक में बढ़ा, वह कपिल में स्पष्ट हुआ और महावीर और बौद्ध में अन्य ही वर्ग दृष्टिकोणों को सामने रख कर पल्लवित हुआ। किन्तु उसकी पूर्त्ति चारवाक में हुई।

चारवाक को महर्षि माना गया है। यह उसकी महत्वपूर्ण परिस्थिति का द्योतक सत्य है।

चारवाक के समय में दास प्रथा के लड़खड़ाते समाज का संदेह चरम नकारात्मकता में पहुंचा। इसका मूल स्थापित सत्ता को उखाड़ने में था, किंतु हुआ क्या? यह दर्शन एकदम जनता में बड़ी तेजी के साथ फैल गया। जनता में आनन्द की इच्छा थी, वह शोषण की किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करना चाहती थी। उच्च वर्गों को इससे बौखलाहट हुई। परन्तु उच्च वर्ग के लिये भी निरंकुशता के माध्यम खुल गये। वे भी अत्याचार कर सकते थे क्योंकि उन पर भी तो कोई बन्धन नहीं था। स्वतंत्र संभोग, ऋण लेकर वापिस न करना, क्या उच्च वर्ग के लिये यह लाभदायक न था? दास पर चाहे जितना अत्याचार कर लो। जिसमें शक्ति है वह शोषण कर सकता है। आत्मा हो तो फिक्र हो कि दास पर निरंकुश शासन न करो। क्योंकि पुनर्जन्म में कहीं उच्च वर्ग को भी दास न बनना पड़े। ईश्वर है नहीं जो न्याय करेगा। जो है सो यहीं है।

किंतु यह सम्प्रदाय लोक में क्यों फैला था? क्योंकि लोक ने कहा कि ईश्वर नहीं है। हे उच्च वर्गो तुम आत्मा का भय दिखाकर कुचलते हो? तुम्हारे शोषण के सारे माध्यम झूठे हैं। यह कहाँ का तर्क है कि कर्म करो फल की आशा न करो।

उभयपक्ष में यह दर्शन असफल हो गया। क्योंकि वर्गों के संबंध मूलतः उत्पादन के साधनों पर निर्भर थे और वे इतने धीरे बदल रहे थे कि बदलते स्पष्ट दिखाई नहीं देते थे। वास्तव वे बदलते ही नहीं थे, केवल व्यापार का संतुलन बदलने और जातियों की शक्तियों के पारस्परिक संबंधों में महाभारत युद्ध के बाद परिवर्त्तन आने से यह परिवर्त्तन उपस्थित हो रहा था। राजकुलों

XX इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन फिलौसफी जदुनाथ सिन्हा १९४९, पृ० २१

को नष्ट करके गण उठ खड़े हुये थे, जिनमें कुलीन शासन था, दास प्रथा थी। कुछ गण आयुधजीवी थे, गोत्रों पर ही आधारित थे। इन गणों ने मिल कर व्यापक गण बनाने का तीन बार प्रयत्न किया। किंतु वे असफल रहे। उनके स्वार्थों में फूट थी। वे एक हो नहीं हो सकते थे। बुद्ध कालीन भारत उस युग का अन्तिम चित्र उपस्थित करता है, जिसमें राजन्य थे, वैश्य उठ रहे थे। परस्पर संघर्ष था। लोक उस समय चारवाक के पीछे था।

चारवाक के दर्शन में समाज की नकारात्मक व्याख्या थी, न कोई रचनात्मक स्वरूप उपस्थित था, न प्रगति का मार्ग था। जड़भौतिकवाद परंपरा से विकास को प्राप्त होती हुई मानवतावादी विचारधाराओं और मूल्यों का कोई नया अङ्कन नहीं कर रहा था। सब कुछ उसमें अस्थिर था। सृष्टि के रहस्य के प्रति मानव की सहज जिज्ञासा का उसमें कोई निराकरण नहीं था। जीवित रहने के लिये जो दर्शन केवल सांसारिक आनन्द बता रहा था, उस दर्शन के लिये जो समाज था उसमें जीवित रहने के लिये श्रम की आवश्यकता थी। श्रम में शोषण था। तो विद्रोह का स्थायी आधार कहाँ था ? असंतोष में। परंतु असंतोष ही से तो काम नहीं चलता। काम चलता है जब सृष्टि की रहस्यात्मकता, समाज के स्वरूप और जीवित रहने के रूप में एक तार खिंचकर कोई ऐसी व्याख्या निकल आती है, जिसनें मन का, विभिन्न वर्गों के सम्बंधिक स्वरूपों से, तादात्म्य बैठ जाता है।

वह ब्राह्मणवाद ने अपने परिवर्त्तित स्वरूप में दिया, बौद्ध दर्शन ने अपने वर्णांत क्षत्रिय स्वार्थों के स्वरूप को परिवर्त्तित रूप में प्रस्तुत करके दिया और जैन विचारधारा ने भी यही दिया।

चारवाक का मत समाज की गति को नहीं पहचान सका। उसने यह स्वीकार नहीं किया कि मनुष्य अपने मनोगत मूल्यों को ऊँचाई पर रखने की सहज प्रवृत्ति रखता है। उसी के कारण वह जो कुछ करता है, उसकी व्याख्या कर लेना चाहता है। बिना समझे वह काम नहीं करना चाहता। उसके विभिन्न दर्शनों की उत्पत्ति के मूल में यही सिद्धान्त रहा है कि उसने विभिन्न परिस्थितियों में अपने को, अपने वातावरण के साथ समझने की चेष्टा की है। वह आज तक इस दशा को स्वीकार नहीं कर सका है कि वह केवल खाने

के लिये जीवित है। उसने अपनी शक्तियों का बहुप्रकार से विकास किया है। मनुष्य के सामाजिक हृदय ने सुख को व्यक्तिस्वरूप में साहित्य में अनुभव करके भी, उसकी परिधि में समाज के व्यापक रूप के सुख को अंतर्निहित करने का ही प्रयत्न निरन्तर किया है। यह प्रवृत्ति हमें अपनी ही परम्परा में प्राप्त होती है।

'नागार्जुन बोधिचित्त में कहता है कि बोधिसत्व की मूल प्रकृति उसका महाकरुणा चित्त होना है, वह सबसे प्रेम करता है। इसलिये बोधिसत्त्व प्राणियों की दुख से मुक्ति के लिये महान आध्यात्मिक शक्ति से अर्जवित होते हैं और इसीलिए वे जन्म और मृत्यु के कल्मष में लिप्त हो जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार वे अपने को जन्म और मृत्यु के नियमों में बाँध लेते है, उनके हृदय पाप और लिप्ति से निरासक्त होते हैं। वे पंकस्थित कमल के समान होते हैं।*

यह अवतारवाद का ही समानांतर रूप था जिसमें सांस्कृतिक दृष्टिकोण यही कहता है कि व्यक्ति और समाज का समन्वय ही श्रेयस्कर है। बौद्ध मत जो दासप्रथा का सहायक प्रमाणित हुआ था, दासप्रथा को रोक न सका। सामंतीय समाज आया और जोर से आया। बौद्धों ने ब्राह्मण बाद की नकल की, तभी सामंतीय व्यवस्था में क्षत्रियों को उनके मत की कुछ उपयुक्ति दिखाई देती थी अन्यथा मुण्डित अभावात्मकता की घुटन से सामंतों को क्या लाभ था? बुद्ध को इसीलिये ब्राह्मणवादी स्वरूप दिया जाने लगा और बोधिसत्व प्रगट हुआ। इस बोधिसत्व ने ईश्वर का स्थान ग्रहण किया।

'बोधिसत्व के इस दर्शन रूप ने व्यक्ति के अहं को हटाकर महात्मा को स्वीकार किया। इस महात्मा को परमात्मा भी कह सकते हैं। हीनतात्मा के लिये नहीं बल्कि सर्वात्मा के आनन्द और मुक्ति के लिए बोधिसत्व प्रयत्न करते हैं।× इसीलिए निर्माण संसार के बाहर नहीं, बल्कि इसके भीतर ही खोजा जाने लगा।+ इसीको जनसाधारण में यह अभिव्यक्ति मिली कि बोधिसत्व भगवान है, माता है, रक्षक है।'××

* एन इंट्रोडक्शन टु इंडियन फिलॉसफी। शतीशचंद्र-धीरेन्द्रमोहन १९५०, पृ० १५६।

× वही पृ० १६१ + वही पृ० १६१ ×× वही पृ० १६१

अब बुद्धमत के प्रशंसकों को देखना चाहिए कि जब वे एकांगी अध्ययन करते हैं तब वे कितनी अनर्गलता का प्रसार करते हैं। यह तो खैर कहना ही व्यर्थ है कि ब्राह्मणवाद विभिन्न संप्रदायों की व्यापक एकता का प्रतिपादक था, जब कि बौद्धमत केवल एक संप्रदाय था, जिसने यह स्वीकार करके प्रारम्भ किया था कि भिक्षु सब नहीं हो सकते। समाज में तो उपासक ही मिल जायें तो काम चल जायेगा। किंतु सामंतीय व्यवस्था के उदय के साथ सर्वसाधारण भी अपने को आगे बढ़ाने लगा। बुद्ध के सामने निर्वाण के योग्य प्रायः उच्च वर्ण का ही व्यक्ति था। किंतु अब शूद्र तो अपनी अर्थ दासता से छूट ही गया था, दास भी अपनी दासता से छूट चला था। जो दास शेष थे, ये घरेलू दास थे। फिर सामंतों के टैक्स-बलि और भाग—जो गणों में बढ़ रहे थे तुलनात्मक रूप में अब कम थे। पहले गोत्रों के, रक्त के आधार पर गण थे, अब राज प्रथा में राजा लौट आया था। सामूहिक भूमि जो पहले पौरजनपद के आधीन थी वह राजा की हो चली थी और व्यक्तिगत संपत्ति भी बन चली थी। यह बात जो मार्क्स ने कही है कि भूमि व्यक्तिगत भारत में नहीं थी प्रमाणित करती है कि मार्क्स भारत के बारे में कुछ नहीं के ही बराबर जानता था।

बहुधा मार्क्स की भविष्यवाणियों का हवाला दिया जाता है। मार्क्स ने भारत के स्वतंत्र होने के विषय में कहा था कि ब्रिटिश बुर्जुआ वर्ग ने जो भारतीय समाज में नये तत्त्व फैलाये हैं उनका फल भारतीय तब तक प्राप्त नहीं कर सकेंगे, जब तक कि ग्रेटब्रिटेन में ही औद्योगिक सर्वहारा वर्ग आज के शासक वर्ग का स्थान नहीं ले लेता, या हिंदू स्वयं इतने सशक्त नहीं हो जाते कि जड़ समूल अंग्रेजी शासन के जुए को उठा कर नहीं फेंक देते।ऽ यह बात एक

ऽ The Indians will not reap the fruits of the new elements of society scattend among them by the British bourgeoisie, till in Great Britain it self the now ruling classes shall have been supplanted by the industrial prole tariat, or till the Hindus themselves shall have grown strong enough to throw off the English yoke altogether. (Articles on India Karl marx pp. 71—72.)

साधारण सी है। इसे विशेष महत्त्व देना व्यर्थ है। मार्क्स भारतीयों को हिंदू कहा करता था। यह प्रगट करता है कि उसका भारत सम्बन्धी ज्ञान कितना था।

मार्क्स ने पूर्वीय देशों की सामाजिक व्यवस्था पर भी विचार किया है। वह पूछता है कि क्या कारण है कि पूर्व में भूमि संपत्ति की अवस्था अथवा सामंतवाद नहीं आ सका? मार्क्स ने इसका उत्तर देते हुए कहा है—मुझे लगता है इसका कारण मुख्यतः वहाँ का जलवायु है, और साथ ही वहाँ की धरती (मिट्टी) की भी विशेषता (हालत) इसके लिये उत्तरदायी है। विशेषतया सहारा से लेकर अरब, फारस, भारत, और एशिया की उच्चभूमि तक फैला रेगिस्तान वहाँ है। सिंचाई ही खेती के लिये वहाँ पहली शर्त है। यह या तो पंचायती काम है, या प्रान्तीय या केन्द्रिय सरकारों का।२

भारतीय जलवायु और धरती का यह ज्ञान कैसा गहन है! यहाँ बहुत प्राचीन काल से सिंचाई की आवश्यकता रही है, किंतु रेगिस्तान राजपुताने के इलाके के अतिरक्ति कहाँ है? बाकी का उत्तरदायित्व तो मौनसून पर है। फिर भारत में अन्न की परेशानी क्या केवल अनावृष्टि के कारण है।

यहाँ जल प्लावन, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, यह सब ही फसलों को बिगाड़ने वाले पुराने शब्द हैं।

खैर। अब देखना चाहिये कि इस सिंचाई और जमीन की मिलकियत का क्या रिश्ता है?

---

2. How comes it that the Oriential did not reach to Landed property or feudalism? *I* think the reason lies principally in the climate, conbined with the conditions of the soil, especially the great desert stretches which reach from the Sahara region through Arabia, Persia, India and Tartary to the gihhest Asiatic uplands. Artificial irrigation is here the first condition, and this is the concern either of the communes, the Provinces or other central government.

(Articles ou India, Karl Marx pp. 3-4.)

बहुत प्राचीन काल में ही राजा का काम सिंचाई करना होता था। तभी राजा और अन्न उत्पादन का पारस्परिक संबंध माना गया है। कहते भी हैं राजा हो तो अन्न अच्छा उगेगा। यदि नहीं तो नहीं उगेगा। पुराणों आदि में यह कथाएँ हैं कि अमुक राजा अच्छा नहीं था और ईति भीति दुर्भिक्ष ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। किंतु इस सिंचाई का राजा टैक्स लिया करता था। महाभारत में इसका उल्लेख है। महाभारत के बाद राजकुलों की जगह गण उठ खड़े हुए। इनका नाश मौर्य्यकाल से प्रारम्भ हुआ। शीघ्र ही ये नष्ट हुये, और ५ वीं शती तक लुप्त हो गये। इनके यहाँ भूमि व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में बँटती थी, और क्षत्रिय कुलीन उस पर दास रखकर काम कराते थे। धीरे धीरे वह प्रथा टूटी। बुद्धकाल तक काफी दास प्रथा टूट गई थी। गण अपने रक्त संबंधों के बल पर जीवित रहे।*

---

* काशी प्रसाद जायसवाल ने भारत में निम्नलिखित गणों का उल्लेख किया है।

(१) अग्रश्रेणी (२) अम्बष्ठ (३) अंधक (४) आंध्र (५) अरट्ट (६) औदुम्बर (७) अवन्ति (८) आभीर (९) आर्जुनायन (१०) भगल (११) भर्ग (१२) भोज (१३) ब्राह्मगुप्ता (१४) ब्राह्मणक (१५) बुलि (१६) दामिन (१७) चिक्कलि निकाय (१८) दक्षिण मल्ल (१९) दाण्डकि (२०) गंधार (२१) ग्लौचुकायनक (२२) गोपालव (२३) जालमनि (२४) जानकि (२५) काक (२६) काम्बोज (२७) कर्पटा (२८) कठ (२९) केरलपुत (३०) कौण्डीब्रिसा (३१) कौण्डपरथ (३२) कौष्टकि (३३) कोलिय (३४) क्षत्रिय (३५) क्षुद्रक (३६) कुकुर (३७) कुनिंद (३८) कुरु (३९) लिच्छवि (४०) मद्र (४१) महाराजा (४२) मालव (४३) मल्ल (४४) मौण्डीनिकाय (४५) मोरिया (४६) मुचुकर्ण (४७) नाभक और नाभपंक्ति (४८) नैपाल द्वैराज्य (४९) न्यस (५०) पर्श्व (५१) पलल (५२) पाँचाल (५३) पिटिनिक ५४) प्राजुर्न (५५) प्रस्थल (५६) पुलिंद (५७) पुष्यमित्र (५८) राजन्य (५९) राष्ट्रिक (६०) सत्वत (६१) शाक्य (६२) शालङ्कायन (६३) सनकानीक (६४) सतियपुत (६५) शायण्ड (६६) सापिण्डि निकाय (६७) सौभूति (६८) शिवि (६९) सुराष्ट्र (७०) शूद्र (७१) त्रिगर्त्त (७२) उत्तर कुरु (७३) उत्तर मद्र (७४) उत्सव संकेत (७५) बसाति (७६)

इनकी लुप्ति पर भारतीय सामन्तीय व्यवस्था का उदय हुआ। इसमें राजा की भूमि अपनी अलग होती थी। लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति अलग होती थी। लोगों से चूँकि राजा को लगान लेने का अधिकार होता था, सब भूमि का मालिक राजा कहलाता था। लगान न देने पर राजा धरती को बेच भी सकता था। अन्यथा बेचने रेहन रखने का अधिकार मालिक को ही था। चरागाह आदि की शामिल जमीन को महाभूमि कहते थे। राजा के पास प्रायः औरों की तुलना में अधिक भूमि होती थी और वह उसको भेंट या दान में देता था। वह घोड़ों के पालन या सेना रखने को जमीन देता था। जागीर दार रुपये या नाल के रूप में, जहाँ जैसी परम्परा हो, लगान लेता था और उसे जागीर को बेचने का अधिकार नहीं होता था। किन्तु बाद में जागीरदारों को जागीरें बेचने का भी अधिकार कहीं-कहीं दिखाई देता है। तलवार के बल पर जीती हुई भूमि का स्वामित्व उस भूमि से लगान लेने भर तक सीमित होता था।

भूमि सबकी मानी गई है। विदेशी लोग इस अभिव्यक्ति को समझ नहीं सके हैं। सबकी अर्थात् किसी की भी। उस पर किसी एक व्यक्ति या राजा का अधिकार नहीं माना गया है। इसलिये उसे सबकी कहा गया है। बाहर के लोगों ने 'सबकी' का अर्थ लगा लिया है, किसी की व्यक्तिगत नहीं—राजा की। यों अर्थ का अनर्थ हुआ। क्योंकि विवाद में प्रजा और राजा के अधिकारों की चर्चा हुई है, राजा एक ओर है, बाकी एक ओर हैं।

मार्क्स का यह तथ्य गलत है। स्वयं मार्क्स ने बाद में एंगिल्स को लिखा था कि, कावेरी-भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति है। मैसूर के राजा की अपनी भूमि तो होती थी, परन्तु उसके अतिरिक्त वह ज़मीन खरीद-खरीद कर उसे ब्राह्मणों को दान देते थे। खरीद कर देते थे, अर्थात् दूसरों की सम्पत्ति के अधिकार को भूमि पर मानते थे।

भूमि सम्बन्धी राजा और प्रजा के अधिकार बदलते रहे हैं। निरंकुश

वामरथ (७७) विदेह (७८) वृजि (७९) वृक (८०) वृष्णि (८१) यौधेय (८१) योन। विषयांतर होने के कारण हम इन पर विवेचन नहीं कर पा रहे हैं किंतु पाठक इनके नामों से ही इनके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

राजकुल सत्ता के युग में भूमि राजा का अपहृत धन थी। गणों में व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। आगे सामन्तकाल के उदय में राजा भूमि का कर लेने वाला स्वामी बना, परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार माना गया! सामन्तीय व्यवस्था में जब राजा ने सैन्यबल से प्रजा को कुचला तब भी भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में रही पर जागीरदारी प्रथा में परिवर्तन आया। परन्तु यातायात के साधन शीघ्रगामी न होने के कारण प्रबन्ध में लगान की वसूली को सहज करने को फिर जागीरदारी प्रथा बहाल हुई।

जो लोग थोड़े से एकांगी तथ्यों को देख लेते हैं वे गलती करें तो क्या आश्चर्य है? राज लगान—जिसे बलि और भाग के नाम देते थे, कितना हो, इस पर समय-समय पर नये-नये नियम बनते रहे हैं।

मार्क्स थोड़े-बहुत जो भी प्राप्य तथ्य इधर-उधर से एकत्र कर लेता था उन्हीं के आधार पर नोट्स लिया करता था। उसे क्या पता था कि उसके बाद उसके शब्दों के फन्दे गलों में डालकर इतिहास के वृक्ष पर झूल जाने वाले भी पैदा हो जायँगे। अनाथ-पिण्डक ने जब बुद्ध के लिये विशाल उद्यान आदि बनाने को जमीन चाही थी तब जेतकुमार से ही जमीन खरीदी थी। यह तो गण का हाल था। राजकुलों की सत्ता का अधिकार कुरु भूमि में अवश्य था जहाँ युधिष्ठिर ने जुए में, केवल ब्राह्मणों की भूमि और सम्पत्ति छोड़कर, बाकी सबकी धरती और सम्पत्ति दाँव पर लगा दी थी। उस समय भी ब्राह्मण के पास सम्पत्ति थी–सम्पत्ति भूमि और गोधन के रूप में होती थी। और यह भी प्रमाणित करता है कि भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ भूमि राज की भी होती थी और पुराने समय में भी दोनों का प्रचलन मिलता है, विशेषकर सामन्तीय युगोदय के साथ। बाद में मुस्लिम शासन के समय में कुछ मुसलमान शासकों ने दूर की जागीरदारी बगावत रोकने को भूमि को राज की ओर से देना बन्द कर दिया था। किंतु राजस्थान में उस समय के जागीरदार जो किसी बड़े राजा के आधीन होते थे, कुल परम्परा के अनुसार भूमि के व्यक्तिगत स्वामी होते थे। अकबर के बाद तो मुगलों ने भी इस व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। दाराशिकोह के 'बन्दोबस्त' के कागजात में 'मौरूसी' शब्द पाया जाता है, जो

प्रकट करता है व्यक्ति को हटाया नहीं जा सकता था। यह एक रूप था। बाद में जब शिवाजी ने पुरानी परम्परा को लाने के प्रयत्न में जागीरदारी मिटाने की चेष्टा में भूमि देना बंद कर दिया तो मुगलों की देखा देखी बाद के मराठे शासकों को कसक-कसक कर भी व्यक्तिगत भूमि देने को बाध्य होना पड़ा था। शुक्रनीति, मनुस्मृति आदि के प्रणयन के पहले याज्ञवल्क्य भी भू-स्वामी था, यह उपनिषद् में स्वयं कहता है जब वह मैत्रेयी से कहता है कि कात्यायनी से तेरा सम्पत्ति का बँटवारा कर दूँ। कात्यायनी कहती है कि यदि धन से पूर्ण सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो मैं कैसे उससे मुक्त हो सकूँगी? (वृहदारण्य कोपनिषद् अध्याय : २. ४ ब्राह्मण. २) जिस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं हो सकती, वहाँ इस प्रकार की अभिव्यक्ति असम्भव है। जहाँ भूमि केवल राजा की हो, या केवल पंचायती हो, वहाँ इस प्रकार की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती।

आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याखाड़ और गौतम, वशिष्ठ तथा अन्य प्राचीन स्मृतिकारों की रचनाओं और पारस्कर के गृह्यसूत्रों के युग के बाद (८०० ई० पू० से ३०० ई० पू०) ही सम्भवतः जैमिनी के पूर्व मीमांसा सूत्रों ने अपना स्वरूप पकड़ा था, जो अब मिलता है। हो सकता है वह पुराना भी हो। पी० वी० काने ने व्यवहारमात्रका का याज्ञवल्क्य स्मृति सम्बन्धी उद्धरण देकर (हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द ३ पृ० ३२४) यह स्पष्ट किया है कि उस समय भूमिगत धन को बेचने, रेहन आदि रखने का भी नियम था। पृ० ४९५–९६ पर काने ने स्पष्ट किया है कि पूर्व मीमांसा, व्यवहार मयूख और कात्यायन स्मृति के अनुसार यद्यपि सिद्धान्तरूप से यह प्रतीत होता है कि राजा ही सारी भूमि का स्वामी था, किन्तु जहाँ व्यक्ति या कुछ व्यक्ति बहुत दिन से किसी भूमि के स्वामित्व को ग्रहण किये रहते थे और उसे जोतते-बोते थे, राज्य का अधिकार उस भूमि पर सीमित होता था। वह टैक्स या फसल का अपना हिस्साभर ले सकता था और वह व्यक्ति या कुछ व्यक्ति उस भूमि के मालिक समझे जाते थे। वे लगान देने को बाध्य थे और राज्य लगान न देने पर उनकी भूमि को बेच भी सकता था। व्यवहार निर्णय ने वृहस्पति और अन्य स्मृतियों के उद्धरण देकर कहा है

कि पतित, शूद्र, चान्डाल और दस्यु वृत्ति के लोग ब्राह्मण की भूमि को खरीदने के हकदार नहीं हो सकते थे। व्यास, भारद्वाज और ब्रहस्पति के उद्धरण देकर फिर कहा गया है कि जब भूमि बेची जाये तो सपिण्ड, भाई, समानोदक, सगोत्र, पड़ोसी कर्जदार और ग्रामवासी का उसे खरीदने का पहला हक होता था। भूमि संयुक्त परिवारगत होने के कारण, उसे दे देना अच्छा नहीं माना जाता था। भूमि बेचने के कई ताम्रपत्र मिलते हैं। गुप्तवर्ष १५६ अर्थात् ४७८ ७६ (ईसा के बाद) पहाडफुट प्लेट ग्रांट में स्पष्ट कहा गया है कि नगरसभा ने भूमि का एक कुल्यावाप २ दीनारों की कीमत लेकर एक ब्राह्मण को बेची, जिसकी स्त्री का नाम रामी था। काने ने अन्य भी प्रमाण दिये हैं। ५ वीं और ६ वीं शती में तो भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व या परिवार स्वामित्व या ग्राम-स्वामित्व या राज स्वामित्व सब ही मिलते हैं।

अपनी हिन्दू पौलिटी में काशीप्रसाद जायसवाल ने (भाग २ पृ० १७४) में इस विषय पर विस्तार से विचार किया है। हम यहाँ उसका सारांश उद्धृत करते हैं। काशीप्रसाद जायसवाल ने मीमांसा पर कोलब्रुकका लेख उद्धृत किया है, जो कहता है—मीमांसा में भूमि के स्वामित्व पर मीमांसा प्रकाश डाला गया है। विश्वजित यज्ञ में जब राजा अपना सर्वस्व अपने पुरोहित को दे देता है तब सवाल उठता है कि क्या उसे सब भूमि देने का भी अधिकार है? जिसमें चरागाह आदि भी शामिल हों। क्योंकि वह राजा तो चक्रवर्ती स्वामी है। इसका उत्तर यों दिया गया है—सम्राट की सम्पत्ति भूमि नहीं होती। न उसके आधीनस्थ राजाओं (जागीरदारों) की ही भूमि सम्पत्ति होती है। विजय से राजा भूमि का राजा बनता है। वह टैक्स लेता है। दण्ड देता है। किंतु सम्पत्ति का स्वामित्व उसका नहीं होता। इसका अधिकार उसका नहीं होता। भूमि राजा की नहीं होती। वह उस पर श्रम करने वालों के लिये समान रूप से सबकी है। जैमिनी कहता है कि किसी व्यक्ति को कुछ भूमि का दान राजा दे सकता है, किन्तु सारी भूमि को नहीं दे सकता।

जायसवाल का उद्धरण विषय को स्पष्ट कर देता है। किन्तु मार्क्स के अन्धानुयायी एम० ए० डाँगे ने (नयापथ, दिसम्बर १९५४) 'भारतीय

इतिहास की कुछ समस्याएँ' नामक लेख (पृ० ६५ से) में अपनी अन्धानुवृत्ति और अनर्गलता से—

न भूमिः स्यात्—सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वान्

का अनुवाद यों दिया है—भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। वह शायद व्यक्तिगत रूप से विभाजित अथवा हस्तगत भी नहीं की जाती थी। यह है वस्तु को किसी गुरू के शब्दों की चाकरी में तोड़-फोड़कर रखने का प्रयत्न। कहाँ की बात, कहाँ की व्याख्या। बात उठ रही है राजा के अधिकार और समाज के अधिकार की। मीमांसाकार कहता है कि जो श्रम करता है भूमि उसकी है। केवल राजा की नहीं, अन्य भी उसके स्वामी हो सकते हैं। पर श्री डाँगे अपनी बात को लेते हैं और आधा ही उद्धरण भी देते हैं।

यदि हम भूमि सम्बन्धी इस सिद्धान्त को ठीक से नहीं समझते तो साहित्य में व्याप्त उस मनोवृत्ति और मनोविज्ञान को भी नहीं समझ सकते, जिसने मेरे तेरे' की भावना के संघर्ष की अभिव्यक्ति की है।

जब राजा भूमि के कुछ भाग का दान कर सकता है, तब यह प्रकट होता है कि उसका कुछ भूमिपर अधिकार व्यक्तिगत हो सकता है। तब कोई कारण नहीं कि व्यक्तिगत अधिकार भूमि पर अन्यों में अस्वीकृत कर दिया जाये, जब कि स्पष्ट ही श्रम करने वालों का अधिकार भूमि पर माना ही गया है। मुसलमानी काल में राजा के लिये—"सरकार दौलतमदार आला मालिक आराजी वहकदार महज लागान" कहा गया है जब कि भूमि के मालिक को—"अदना मालिक" कहा जाता था—जो "मुनाफा खरीद-फरोख्त" के अधिकारी थे।

आगे काशीप्रसाद जायसवाल ने (पृ० १७७) नीलकण्ठ की व्याख्या दी है जो भी यही कहती है कि राजा केवल कर लेने का अधिकारी है। भट्ट-दीपिका ने भी यही कहा है। युधिष्ठिर के समय में जो सार्वभौम सम्राट को सार्वभौम अधिकार थे, वे भारतीय सामन्तवाद के उदय तक समाप्त हो चुके थे और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व आ चुका था। कात्यायन ने राजा को पैदावार के छठे भाग का अधिकारी मात्र बताया है और यही उसका भूमि पर स्वामित्व भी बताता है। अँग्रेजी साम्राज्यवादियों ने ही यह कहा (विन्सेंटस्मिथ) था कि भारत में भूमि सदा से ही सम्राट की थी। मार्क्स को भी जो कुछ

भारतीय तथ्य मिले थे वे इसी प्रकार के यूरोपीय विद्वानों के अनुवादों द्वारा। वह भारत पर क्या ऐसा लिख सकता था? वह संस्कृत को कुछ भी नहीं समझता था। केवल अन्धानुयायी ही उसकी कही एक गलत बातको बार-बार दुहराते हैं और इस प्रकार उसकी कही हुई उन गम्भीर बातों का भी वजन हल्का करते हैं, जो उसने अपनी मेधा और प्रतिभा से कम से कम तथ्य में से समझकर कही थी, यद्यपि ऐसी बहुत कम बातें वह भारत के सम्बन्ध में कह सका था।

प्राचीन काल में राजा केवल रक्षक (पति) होता था। अर्थशास्त्र का उद्धरण जायसवाल ने दिया है—

राजा भूमेः पतिर्दृष्टः शास्त्रज्ञैरुदकस्य च
ताभ्यामन्यत् यद्द्रव्यं तत्र साम्यंकुटुम्बिनाम्।

अर्थात् शास्त्रज्ञों के अनुसार राजा भूमि और जल का पति है। इन दो के अतिरिक्त जो भी सम्पत्ति हो परिवार के सदस्यों का उस पर अधिकार है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व बहुत पुराना है। पहले भूमि, कम्यून के समय में जुतती न थी। जब आर्य्य भारत आये यहाँ भूमि खेतिहर जातियों के ग्रामों की होती थी। धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय के साथ भूमि भी बँट गई। महाभूमि राज्य की होती थी। प्रारम्भ में सम्भवतः आर्य्य राजा सर्वस्वामित्व रखता था। महाभारत के बाद वह शक्ति टूट गई और हमने उसके बाद के समय की परिस्थिति को अभी देखा।

यही परिस्थिति थी जब कि बौद्धमत को खेतिहर किसान की तुष्टि के लिये भी चलना पड़ा। पहले तो गण में भूस्वामी और सेठों से काम चल जाता था भिक्षा मिल जाती थी। एक-एक के घर में ही जमात की जमात जीमने बैठ जाती थी। अहिंसक भी वहाँ माँस खाते थे, क्योंकि उनसे कहा कब जाता था कि तुम्हारे लिये पशु काटा गया है? और क्षत्रिय तो माँस खाते ही थे। संभवतः उनसे मना करने पर वे खाना ही न खिलाते, तो काफ़ी गड़बड़ होती। जैन तो सेठों पर ही मुख्यतः अवलम्बित रहे। ईमानदारी से माँसाहारी न थे और नहीं ही खाते थे। पर क्षत्रियों से माँस छूटना सहज नहीं था। तो जब

वे गण और क्षत्रिय नष्ट होने लगे, लाचार बौद्धमत को राजाश्रित होना पड़ा। उसने स्वरूप बदला। दूसरे, प्रजा भी अब पहले की तरह दास या अर्द्ध दास नहीं थी। किसान ने जन्म ले लिया था (यद्यपि उस पर बन्धन थे, फिर भी पहले की तुलना में वह स्वतन्त्र थे)। कौटिल्य के समय में तो नागरिकता खरीद-बेच की चीज हो गई थी। पहले की सी क्षत्रियों के सर्वाधिकार की बात ही नहीं रही थी। और इसलिये उससे भी, उस प्रजा से भी धन की आवश्यकता थी, क्योंकि ब्राह्मण उससे लेता ही था। यों बौद्धमत महा-यान का रूप धारण कर गया। यह सत्य तो राइह्सडेविड्स ने नहीं कहा, क्यों कि उसका अध्ययन एकांगी था, यद्यपि गहरा अवश्य था।

साहित्य के क्षेत्र में साधारणीकरण का सिद्धान्त, दर्शन के क्षेत्र में आत्मा की समानता, काव्य के क्षेत्र में मनुष्य का भाग्य को चुनौती देकर देवताओं के लिये अगम्य अत्याचारी (रावण-राम कथा) को हराना, अर्थ शास्त्र के क्षेत्र में दास प्रथा का वर्जन, यह सब सामंतीय जीवन का उदय भारत में लाया। इसके साथ ही साथ आकाश का देवता अवतार ले लेकर पृथ्वी पर मनुष्य की रक्षा करने के लिये आने को मजबूर होने लगा। यह भी मनुष्य की जीत थी।

इस विवेचन से प्रगट होता है कि भारत में विकास कितना प्राचीन हो चुका था! इसी युग में वैष्णवमत का भी विकास हुआ था।

किन्तु अपरिवर्त्तन शील लगने वाला ग्राम्य समाज क्या भारत में बिल्कुल ही अपरिवर्त्तनशील रहा? अङ्गरेजों के आने पर नगरों का विकास बिल्कुल नये ढङ्ग से हुआ। और नगर और ग्राम के साहित्य में इतनी बौद्धिक दरार पड़ी जो पहले नहीं थी।

सामंतीय अभिव्यक्ति का स्वरूप जनता की अभिव्यक्ति के स्वरूप से अन्य नहीं था। तभी हम मध्यकालीन साहित्य में यह गुण देखते हैं कि वह जनता की समझ में शीघ्र बैठ जाता है। मध्यकालीन काव्य जनता के निकट था और दरबारी काव्य की क्लिष्टता को छोड़ दिया जाय, तो बाकी सामंतीय युग में बौद्धिक अनुशीलन का स्तर भेद होने पर भी रूप भेद नहीं था। आधुनिक साहित्य द्विवेदी युग से अलग होने लगा। जनता और वर्गीन साहित्य के सर्जकों के मनस्तरों में भेद पड़ने लगा और साहित्य की पुरानी लचक समाप्त होने लगी।

इसका कारण यही था कि अङ्गरेजों के आने के पहले नगर का व्यापार ग्रामों पर आधारित अधिक था और नगर ग्राम से बहुत भिन्न नहीं था, जैसा कि बाद में हो गया। सामंतीय युग में चाणक्य से तात्याटोपे तक ग्राम समाज में निरंतर प्रजा और राज्य के संबंधों में मात्रा भेद रहा, रूप भेद नहीं रहा। वहाँ आमूल परिवर्त्तन की बात नहीं थी। जब कभी गड़बड़ उठती, प्रजा का दबाव बढ़ता, सामंतीय व्यवस्था को झुकना पड़ता, जब प्रजा असन्नद्ध रहती सामंत का जोर बढ़ता।

किंतु यह अवस्था नितांत परिवर्त्तनशील न रहने पर भी मौलिक परिवर्त्तन नहीं लाती थी और यही कारण है कि साहित्य में भी वह परिलक्षित नहीं होती। मार्क्स ने यद्यपि केवल इतना समझा था कि अङ्गरेजों का आगमन और मशीनयुग परिवर्त्तन लाया है, इसकी यांत्रिक व्याख्या की।* फिर भी वह मूलतः ठीक था और यह उसके लिये प्रशंसनीय था कि भारत की भाषाओं को न जानने वाला एक विदेशी इतना भर समझ सका। किंतु भारतीय समाज के अपरिवर्त्तनशील प्रतीत होने वाले परिवर्त्तन रूप में एक वस्तु वह देख ही नहीं सका जो कि यहाँ की जाति प्रथा थी।

---

*. A village, geographically considered, si a tract of country comprising some hundred or 1000 a acres of arable and waste lands; politically viewed it resembles a corporation or town ship. Its proper establishment of officers and servants consists of the following descriptions: The patail, or head inhabitant, who has generally the superintendence of the affairs of the village, settles the disputes of inhabitants, attends to the police and performs the duty of collecting the revenue within his village,a duty which his personal influence and minute acquaintance with the situation and concerns of the people render him the best qualified for this charge. The kurnum keeps the accounts of cultivation, and registers everything connected with it, The tallier and the totie, the duty of the former of which consists in gaining information of crimes and offences, and in

उसने बताया कि ग्राम छोटा होता है, उसमें पटेल, पटवारी, ब्राह्मण होता है, कायस्थ मुंशी होता है, परन्तु सब कुछ देख कर भी वह यहाँ की विचित्र जाति प्रथा पर नहीं लिख सका। यूरोप ने जाति प्रथा के रूप में दूसरा विकास किया और भारत ने दूसरा। यहाँ चमार की सामाजिक स्थिति उसकी आर्थिक स्थिति से विचित्र ढङ्ग से मिली हुई थी।

दक्षिण भारत में चमार हल चलाता था, ब्राह्मण धरती का मालिक होता था। ब्राह्मण के लिये प्रायः ही भारत में हल चलाना निषिद्ध था। उत्तर भारत के पाण्डेय लोगों में तो वसूला भी छूना ब्राह्मण के लिए वर्जित था।

जातियाँ अपने पेशे के अनुसार काम करती थीं। जो जिस जाति का व्यक्ति

---

escorting and protecting persons travelling from one village to another; the province of the latter appearing to be more immediately confined to the village, consisting amongother duteis, in guarding the crops and assisting in measuring them. The boundarymen, who preserves the limits of the village, or gives evidence respecting them in cases of dispute. The superintendent of tanks and water consses distributes the water for the purposes of agriculture. The Brahmine, who performs the village worship. The school master, who is seen teaching the children in a village to read and write in the sand. The calender-Brahmine, or astrologer etc. These officers and servants generally constitute the establishment of a village; but in some parts of the country it is of less extant; some of the duties and functions above described being united in the same person in others it exceeds the above-named number of indiduals. Under this smiple form of municpal government the inhabitants of the country have lived from time immemorial ×× its internal economy remains unchanged.

Marx Engels on Britain. Mascow 1955. pp. (381—82)

होता था, उसे उसी काम को करने को विवश किया जाता था। सारा समाज इसी आधार पर आश्रित था। कमकर वर्ग प्रायः निम्नवर्ण था। यह प्रायः सब जगह एक सी पायी जाने वाली बात थी।

इसकी पृष्ठभूमि क्या था? इसकी पृष्ठभूमि में ही साहित्य के वैष्णव चिंतन का प्रादुर्भाव निहित है।

पहले दास प्रथा थी, दासों से निम्न काम या कमकर वर्गीय काम लिये जाते थे। दास जब स्वतंत्र हुए तो उन्होंने अपने पेशों में विशेषता ग्रहण कर ली। वे उसी रूप में पहले की तुलना में स्वतंत्र हुए। केवल आर्य ही नहीं, विभिन्न जातियों में विभिन्न पेशों के लोग थे। वे सब कालांतर में अपने अपने पेशों के अनुरूप समाज के अङ्ग माने गये। एक तो उनका विभिन्न जातियों (Races tribes) से आना, दूसरे ग्राम समाजों में रहना जहाँ से आवागमन अधिक नहीं था, वे जातियाँ अब नये रूप में वर्णाश्रम की अन्तर्गत जातियों (Castes) का रूप धारण कर गईं।

अब वे कमकर जो निम्न वर्ण बने और वे शासक जो उच्च वर्ण बने इनका द्वन्द्व प्रारम्भ हुआ। ये उच्चवर्ण केवल आर्य्य ही रहे हों ऐसा सोचना ग़लत होगा। विभिन्न जातियों के शासक वर्ग भी अब नये रूप में वर्णाश्रम की अंतर्गत जातियों के रूप धारणा कर गए और उनके अनेक जातीय भेद होते हुए भी वे उच्चवर्ण के अन्तर्गत आ गए। भारत में जाति की शक्ल बदलने का काम बराबर होता रहा है और आज भी पेशे की सत्ता अपनी स्थिति को बदल लेने में समर्थ होती है।

यह परिवर्त्तन भी अचानक नहीं हुआ था। नदियों का व्यापार बढ़ने से, महाभारत युद्ध के बाद जब एक राजनैतिक केन्द्रीय शक्ति नहीं रही, व्यापार ग्रामों में फैलने लगा और उससे ग्रामों की परिस्थिति में पुराने संतुलन में फर्क आया। सैकड़ों बरसों में समाज ने अपने को नयी परिस्थिति के अनुकूल विकसित कर लिया। इस का परिणाम यह हुआ कि नई वर्णव्यवस्था बनी जोकि पेशों पर अधिक निर्भर हुई और पेशा जन्मगत रहा। विभिन्न जातियों के देवता एक दूसरे के समीप आये और व्यापक हिंदू धर्म बना। क्षत्रियों ने अवश्य आर्य्य दंभ का प्रयत्न किया किंतु वे विकास की उन्नति को रोक न सके, गण लुप्त हो

गए और क्षत्रियों को परिवर्त्तित परिस्थिति में अपने को बदलना पड़ा ताकि वे जीवित रह सकें। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त हमने विभिन्न जातियों, पेशों, आर्थिक परिस्थिति तथा सामाजिक परिवर्त्तनों को देखा और इससे यह निष्कर्ष निकला कि भारतीय समाज का विकास यूरोप के समाज के विकास से भिन्न रहा, यद्यपि वर्ग संघर्ष, आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव, विकास क्रम की मंजिलें प्रायः एक रूप में ही रहीं, परन्तु उनके दौरान और काम की शक्ल में प्रकारांतर से विशेष परिस्थितियों के कारण फर्क पड़ गया।

यूरोप की दास प्रथा ईसा के बाद दूसरी तरह से टूटी। हमारे देश की दास प्रथा महाभारत युद्ध के बाद दूसरी तरह से। यूरोप में दास प्रथा टूटी और जातियों (Nationalities) का उदय होने लगा जो क्रमशः ३०० या ४०० वर्ष में पूर्ण हुआ, इसी तरह भारत में भी दास प्रथा टूटने पर जातियों (Castes) का उदय हुआ जो महाभारत युद्ध के बाद से लेकर बुद्ध तक चला। यूरोप खण्डित हुआ। भारत में समस्त समाज ने चातुर्वर्ण्य का ही नया रूप धारण किया। भारत में चंद्रगुप्त मौर्य और चाणक्य के युग के बाद सामंतीय व्यवस्था का उदय होने पर जातियों (Nationalities) का उदय होने लगा। पहले भी जातियों (Tribes) के नाम मिलते हैं, परन्तु उनमें और परवर्त्ती जातियों (Notionalities) में भेद है। जब कबीला-जाति का प्रांतीय जाति रूप में परिवर्त्तन हुआ तब वह भौगोलिक आधार लेकर उठी, उसका आधार गणगोत्रीय न रहा और अन्दरूनी व्यवस्था में उन प्रांतीयों Nationalities ने वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत जातियों (Castes) की व्यवस्था को अपनाया। यह है भारतीय विकास की वास्तविकता।

वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत जातिवाद समाज का मूलाधार बना। वह आर्थिक बुनियाद पर सामंतीय व्यवस्था के कारण जन्मा था और प्रांतीय जातिवाद राजनैतिक शक्ति संतुलन के कारण जन्मा था, जो यद्यपि आर्थिक बुनियाद पर आश्रित था, परंतु उसकी बुनियाद मूलाधार में परिवर्त्तन ले आने की क्षमता नहीं रखती थी। इसीलिये हमारे मध्यकालीन साहित्य में प्रांतीय जातिवाद को प्रमुखता नहीं दी गई, मूलाधार अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत जातिवाद पर ही लिखा गया और उसी की समस्याओं को प्रकारांतर से उपस्थित किया गया।

हम पहले कह चुके हैं कि भारतीय सामंतवाद का उदय सहसा उत्पादन के साधन बदलने से नहीं हुआ। नदियों का व्यापार बढ़ने से माल और सामग्री के आयात निर्यात से ग्राम समाज में पड़ने वाले आर्थिक परिवर्त्तनों के फलस्वरूप धीरे-धीरे उसका समाज में विकास करते करते उदय हुआ, इसलिए एक सा विकास नहीं हुआ। राजकुलों के साथ गण व्यवस्था का ढचरा भी चलता रहा। ढचरा इसलिए कि उसमें जान नहीं रही थी। कबीला जातियों ने प्रांतीय जातियों का रूप तो लिया, किंतु विदेशी आक्रमणों ने उनको जमने नहीं दिया ! क्योंकि विदेशी आक्रमण आर्थिक व्यवस्था पर चोट करते थे। इसलिये भारतीय समाज प्राणपण से वर्णाश्रम व्यवस्थांर्गत जातिवाद को कायम रखने में लगा रहा, क्योंकि पेशों के आर्थिक आधार उसी पर निर्भर थे। विदेशी आक्रमण उच्च वर्णों पर चोट करते थे, और निम्नवर्ण सिर उठाते थे। उच्च वर्ण उन्हें दबाने की चेष्टा करते थे। पारस्परिक संघर्ष चलता था। परंतु निम्नवर्णों में भी पेशों के विभिन्न स्तर थे। उन्हें भी अपने बचाव के लिये, अपने अन्तर्विरोधों के फलस्वरूप, अपनी आर्थिक परिस्थिति के फलस्वरूप, विदेशी से लड़ने के लिये, उच्चवर्णों से हाथ मिलाना पड़ता था। जब विदेशी बस जाते थे, तो आर्थिक व्यवस्था को वे बदल सकने में असमर्थ होकर मूल वर्णाश्रम-व्यवस्थांर्गत समाज की व्यवस्था में अपने पेशों के अनुसार अंतर्भुक्त हो जाते थे। इस प्रकार प्रांतीय जातिवाद के जोर पकड़ने की जगह वर्णाश्रम-व्यवस्थांर्गत समाज व्यवस्था ही जोर पकड़ती गई। जब सम्राट हर्षवर्द्धन के बाद भारत के बाह्य व्यापार को समुद्र में अरबों ने छीन लिया और कुछ दिन बाद उत्तर में ईरानी मुसलमानों ने छीना, तब आर्थिक व्यवस्था में गतिरोध आया। अब माल न बाहर जाता था, न भीतर आता था। ग्राम की उत्पत्ति ग्राम में ही लगने लगी। केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता न रही, वह छिन्न हो गई। नयी प्रांतीय शक्तियाँ (Nationalities) गुर्जर, प्रतिहार इत्यादि उठीं, किंतु मूलाधार में आर्थिक व्यवस्था सामंतीय ढाँचे में वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत ही रही, जिसमें जाति और पेशे की इकाई रही। उस समय उच्चवर्णों और निम्न वर्णों में पारस्परिक अधिकारों के लिये संघर्ष हुआ जो संत साहित्य में अभिव्यक्त है। क्योंकि मूलाधार में परिवर्त्तन कर सकना असंभव सा था, क्योंकि परि-

वर्त्तन आने के तो दो कारण थे, एक, विदेशियों के आक्रमण से व्यवस्था में गड़बड़ी, और दूसरे उत्पादन के साधन नहीं बदलने से आपसी संघर्ष की तीव्रता जो विषमता के प्रति विद्रोह थी, और कोई कारण नहीं था जो परिवर्त्तन ला सकने में समर्थ होता, इसीलिये हमें संतसाहित्य में इन्हीं दो की अभिव्यक्ति मिलती है। उसमें भी विदेशी आक्रमण को दैवी आपत्ति माना जाता था और क्योंकि वह समाज के मूलाधार नहीं हिलाता था, उसको भी संतों में विशेष प्रभुत्व नहीं दिया गया। विदेशी प्रभाव से जो नवीनता आई थी वह अवश्य सिक्खों के संप्रदाय में प्रगट हुई। कबीर ने भी मुसलमानों को विदेशी नहीं कहा, केवल एक जाति (Caste) के रूप में ही लिया है। इस दृष्टिकोण का कारण समाज की आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर था, जिसमें मूलतः दो वर्ग थे—शोषक और शोषित।

कालांतर में जब मुगल साम्राज्य बसा और शोषकवर्ग ईरानी तूरानी प्रभुत्व का प्रतिनिधि बन गया, राणा प्रताप ने उसी सामंतवादी व्यवस्था के लिये जान दे दी, जो कि मूलतः अपनी प्रजा के लिये कल्याणकारी था, विदेशी विलास का माध्यम नहीं था। आगे समर्थ रामदास, सिख गुरु परम्परा ने मुगलों के घोर अत्याचार का विरोध किया और विदेशी आक्रमण हर्ष के बाद न होने से सामंतीय व्यवस्था के अन्तर्विरोधों से जो प्रांतीय जातीयों (Nationalities) के विकास में रुकावट आ गई थी, वह फिर विकसित हुई। भारत में काश्मीरी, पंजाबी, गुजराती, बंगाली, जाट, सिक्ख, मराठा आदि का क्रमशः उत्थान होने लगा। इसी समय अँगरेज और यूरोपीय शक्तियाँ आईं, जिनसे एकदम ही परिस्थिति में परिवर्त्तन आ गया।

किंतु मूलाधार में सामंतीय जीवन की बुनियाद में ग्राम था, और व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत समाज व्यवस्था पर आधारित थी। अंगरेजों के आने पर विदेशी पूंजीवाद ने जनशोषण किया, किंतु यहाँ के सामंतवाद को जड़समूल नष्ट नहीं किया, अपने स्वार्थ के लिये उससे समझौता किया। भारत में दो प्रकार के विषम विकास हुए। वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत समाज व्यवस्था मशीन के आने से टूटने लगीं—नगरों में राजनैतिक चेतना जगी, किंतु ग्रामों में वह मौजूद थी, वहाँ की आर्थिक व्यवस्था और उत्पादन के साधन पुराने ही

थे। अँग्रेजों ने वहाँ अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करके पुराने ग्राम की व्यवस्था के आधार तो तोड़ दिए और लगान का अपना इन्तजाम कर लिया, परन्तु साँस्कृतिक चेतना को मोड़ने वाले उत्पादन के साधनों को ज्यों का त्यों रहने दिया। इससे ग्राम अपनी उलझन में पिसने लगा। महात्मा गांधी को इतिहास ने आगे बढ़ाया। वह भारतीय परिस्थिति के अनुकूल होकर आये। उन्होंने पूंजीवाद के विकासशील रूप को सहायता दी और नागरिक राजनीति का नेतृत्व किया। और ग्राम समाज की मूलाधार वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत व्यवस्था को जाग्रत करने के लिए उन्होंने उसी सामंतीय संतपरम्परा की रियायत मांगने वाली पद्धति को अपनाया, जिसको ग्राम समाज समझता था अर्थात् ग्राम के पेशे और जाति पर आधारित वर्ग संघर्ष के स्वरूप को गाँधी ने समझा और शताब्दियों से जमी जड़ता को दूर करने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि, 'आधुनिकतावादी' गाँधी को न समझ कर उसे 'प्रतिक्रियावादी' कहते हैं, क्योंकि उनके दिमागों के सिक्कों पर विलायती शिक्षा की मुहर होती है, वे भारतीय परिस्थिति को न जानते हैं, न समझते ही।

भारत की यह वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत जाति व्यवस्था जिसने साहित्य को मानवतावादी प्रेरणाएँ दी हैं, हमें उस पर भी विचार करना चाहिये कि अपने उपर्युक्त राजनैतिक और आर्थिक स्वरूप के अतिरिक्त उसकी वास्तविकता क्या थी?

भारतीय मेधवियों का न जाने किस युग से कितना समय इसी समस्या में लगा रहा है। हमारे पास इसका हल निकालने वालों या इसकी व्याख्या करने वालों की जो प्राचीन काल की सूची है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। और अधुनातन युग में राजाराममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, वल्लतोल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, और महात्मा गांधी तक का मस्तिष्क इस समस्या ने अपनाया है।

जातिप्रथा पर क्षिति मोहन सेन ने एक प्रारम्भिक पुस्तक भी लिखी है और इस विराट समस्या की थोड़ी सी झलक देने का प्रयत्न भी किया है। हम विस्तार से तो इस विषय को यहाँ नहीं ले सकते, क्योंकि हमारा उद्देश्य केवल

यह दिखाना है कि इस व्यवस्था के उदार अथवा अनुदार स्वरूप ने साहित्य पर क्या प्रभाव डाला है।

भारत में जाति कब से प्रारम्भ हुई ?

प्रारम्भ में केवल यह मिलता है कि यहाँ विभिन्न कबीले थे। वे कबीले (Tribes) कुछ विशेष जातियों (races) के थे। वे प्राचीन कबीले सामूहिक जीवन के प्रतीक थे, उन्हें परवर्त्ती काल के कबीलों के स्वरूप में भी नहीं समझना चाहिए। शब्दाभाव से ही हमने यहाँ कबीला लिख दिया है। पाठक इसके लिए क्षमा करें और स्वयं ही पुराने और नए कबीलों का भेद समझ लें। पुराने में मातृसत्ता थी, बाद के में पितृ सत्ता।

यह कबीले (पुराने) किसी विशेष देवता को मानते थे। यह देवता कोई आध्यात्मिक रूप वाला नहीं होता था। यह तो किसी विशेष प्राकृतिक वस्तु का प्रतिनिधित्व करने वाला होता था। इसे टॉटम कहते थे।

टॉटेम के बिरुद्ध टैबू था। अर्थात् टॉटेम देवता था और उसका जो प्राकृतिक विरोधी था वह टैबू कहलाता था। इस अति प्राचीन देश की समस्या में टॉटेम सिद्धान्त ने कितना बड़ा काम किया है, उसे देखकर न समझने से, हम इस देश की संस्कृति को ही नहीं समझ सकते, क्योंकि दर्शन और अन्ततोगत्वा साहित्य तथा विभिन्न कलाओं में टॉटेम मानने वाली जातियों की अन्तर्भुक्ति के फलस्वरूप जो समन्वय की भावना आई है, वह बहुत ही गहरी है। इन टॉटेम को मानने वाली जातियों के निलय से भी वर्णाश्रम व्यवस्थांतर्गत जातियों के कई स्तर बने हैं, जिनकी वास्तविकता का पता गाँवों में ही चलता है।

हमारी संस्कृति के विकास में इन टॉटेम जातियों के विचारों की अन्तर्भुक्ति हुई है और उसने कई प्रकार के रूपों को धारण किया है। स्वयं जिन बड़े देवताओं को हम मानते हैं, वे भी इन्हीं टॉटेमों के पारस्परिक मिलन का परिणाम हैं। जिस अद्वैत वेदान्त का प्रसार भारत में अखण्ड रहा है, और जिसे नहीं समझने वाले ब्राह्मणवाद की चाल समझते हैं, उसके पीछे कितनी बड़ी मानवतावादी समन्वयवादी भावना है, वह भी टॉटेम के अध्ययन से ही ज्ञात

होती है। टॉटेम अपने परिवर्त्तित स्वरूप में अब भी जन जीवन में प्राप्त होता है।

टॉटेम का प्रारम्भ समूह की आर्थिक अर्थात् भोजन संबंधी आवश्यकताओं से हुआ। समूह अपना पेट भरने के लिये प्रारम्भ में खेती नहीं करता था, घूमता फिरता था।

'टॉटेम मानने वाले कबीले का जन्म उन खाना इकट्ठे करने वाले लोगों में है जो कि एक विशेष प्रकार के पशु-पौधे के बहुतायत से पाये जाने वाले क्षेत्र की तरफ आकर्षित होते थे, और वही पशु या वृक्ष उनका मुख्य भोजन बन जाता था।'*

मुख्य भोजन बनने के उपरान्त उसका प्रयोग बहुतायत से होता था। वह वस्तु पशु और वनस्पति भी हो सकती थी। वह कोई प्राकृतिक वस्तु भी हो सकती थी जो यदि सीधे नहीं, तो किसी अप्रत्यक्ष रीति से समूह के मानसिक जीवन पर अपना प्रभाव डालती थी। भय और प्रकृति का अज्ञान भी उन मनुष्यों पर अपना विशेष असर रखते थे।

'आदिमजादू इस विचार पर निर्धारित है कि यदि यथार्थ को अपने अधिकार में कर लेने का जाल कल्पना में फैला लिया जाता है, तो वह यथार्थ पर अधिकार कर लेने के ही समान है।'×

यह विचार आदिम चित्र कला में अभिव्यक्त हुआ। यही विचार काव्य अर्थात् प्रारम्भिक धार्मिक साहित्य का मूलाधार बना जो कि सामूहिक जीवन की ही उपज थी और जाति के कालांतरित विकास में अपना विकास साथ साथ करती गई।

टॉटेम का सादी तौर पर सिद्धान्त इस प्रकार का था कि अपने उस घुमन्तू जीवन में, 'जो जाति एक वस्तु विशेष (पौधा इत्यादि) खाती थी, उसका जीवन-मरण उसी पर निहित होता था। वह चीज कम पैदा होती तो जाति को खाने को नहीं रहता। इसलिये वह जाति अपने को उस वस्तु का प्रतिरूप

---

* ए स्काइलस एण्ड एथेन्स, जॉर्ज टॉमसन पृ० १३

× वही पृ० १३

ही मानती। जब उनके यहाँ बड़े बूढ़े पूर्वजों की पूजा करते तो उन बड़े बूढ़ों की भी उस वस्तु विशेष के रूप में ही पूजा की जाती।'XX

मातृसत्ता के युग में यही जातियों का रूप था। पितृसत्ता के उदय के साथ काम बँटने लगे। एक समूह में दर्जे बने; आर्यों में देव थे, ऋभु तक्षण का कार्य करते थे, अश्विद्वय वैद्य थे। अनार्यों में दास प्रथा के विकास के साथ समाज में दर्जाबन्दी बढ़ गई। विजेता अलग होने लगे, पराजित अलग। यहाँ तक तो भारत की जाति प्रथा के विकास में संसार की अन्य जातियों का सा ही विकास दिखाई देता है।

किंतु महाभारत युद्ध के बाद से बुद्ध तक और बुद्ध से हर्ष तक, और हर्ष से तात्याटोपे तक, तथा तात्याटोपे से महात्मागाँधी तक भारत की अपनी छूआ छूत वाली परम्परा भी शुरू होती है, बढ़ती है, पकती है, और अन्ततोगत्वा गलती है।

इस जाति प्रथा का स्वरूप उलझा सा क्यों है ?

क्योंकि १] टॉटेम जातियाँ एक ही समाज में अन्तर्भुक्त हुईं और विभिन्न देवताओं के मिलन से विष्णु, शिव आदि देवताओं के परिवार बने। विष्णु परिवार की जातियों ने ही वैष्णव धर्म चलाया जो कि मानवतावादी था। शैव परिवार की जातियों ने मिलकर जहाँ एक ओर जाति प्रथा को स्वीकार किया उनके दूसरे समूह ने जाति प्रथा का बहिष्कार किया।

२] जादू टोनों का इन विभिन्न जातियों के मिलन से समन्वय हुआ।

३] अद्वैत वेदांत जन्मा जिसने देवताओं के लघुत्व के परे मनुष्य की मेधा को पहुँचाया जहाँ मेधा अन्तिम सत्य को नहीं पहचान सकी और उसने नेति नेति कहा।

४] दास प्रथा का क्रमशः टूटना वर्णाश्रम व्यवस्था को नया रूप देकर स्थापित करने वाला बना। और सामंतीय अर्थव्यवस्था का प्रतिरूप होने के कारण वह समाज बराबर जीवित रहा।

XX ए स्काइलस एण्ड एथेन्स, जॉर्ज टॉमसन पृ० १४

५] जातिप्रथा के कट्टर अनुयायी ऊंची जातियों में ही नहीं, शूद्र कहलाने वाली जातियों के स्तरों में सदैव से रहे, और वे ही असल में जाति प्रथा की बुनियाद रहे। जैसे काछी, गड़रिया, जुलाहा, माली, इत्यादि फिर भंगी, फिर चमार, यों कई स्तर उत्तर भारत में मौजूद हैं। सब ब्राह्मण से रियायत चाहते थे, ब्राह्मण को उलट कर फेंकना नहीं। क्योंकि प्रत्येक जाति एक ही समाज का एक एक यूनिट थी। वे यूनिट एक दूसरे में घुले मिले नहीं थे। उनके स्तर अलग थे। वे आर्य्यों द्वारा बनाये गये नहीं, वरन् अनार्य्यों की पुरानी दास प्रथा के अवशेष थे।

६] निम्न जातियो में चमार अपने को नीम और पीपल गोत्र का बताते हैं। ये टॉटेम के उपासक हैं जिनका जीवन स्रोत अमुक वृक्ष माना जाता था। किसी प्रकार वे दब गये और दास प्रथा में कुचले गये। वे भंगी से ऊँचे स्तर पर रहे, पर वैसे अछूत ही रहे।

७] दक्षिण भारत की जाति समस्या का उत्तर भारत से थोड़ा भेद है। वहाँ एक ओर आर्य्य और अनार्य्य पुरोहित वर्ग मिलकर ब्राह्मण बने, दूसरी ओर सारा समाज अपने विभिन्न स्तर लिये रहा। दास प्रथा वहाँ भी टूटी, किंतु उसके टूटने के समय सामंतीय अर्थ व्यवस्था का पैटर्न सामने आया और वह आर्थिक रूप से दासप्रथा वाले समाज से इस नयी सामंतीय अर्थ व्यवस्था के साँचे में ढल गई।

८] विदेशी जातियाँ आईं और इसी आर्थिक ढांचे में पेशे के अनुरूप समा गईं।

९] भारत में ब्राह्मण को मानने वाले समूह भी थे, उसका विरोध करने वाले भी। इस्लाम के आने से पहले सामंतीय जाति व्यवस्थांतर्गत समाज के आर्थिक जीवन में ब्राह्मण और

क्षत्रिय (बौद्ध) पौरोहित्य का संघर्ष चलता रहा। शैव भी थे जो प्रायः निम्नजाति के प्रतिनिधि थे।

१०] इस्लाम के आने के बाद प्रायः दो पौरोहित्य मुख्य हो गये। एक ब्राह्मणवाद दूसरा इस्लाम। बौद्ध पौरोहित्य दोनों में अन्तर्भुक्त होकर लुप्त हो गया। शैव-निम्न जाति प्रतिनिधि का भी इसी प्रकार लय हुआ।

११] इस्लाम अपनी बिरादराना पुकार को लेकर आया, तो वह जाति व्यवस्था को क्यों न तोड़ सका? इस्लाम का बिरादराना आधार कबीलों को एक करने में था, जो उसने अरब में किया उसका आर्थिक आधार तब तक इस्लाम के सच्चे स्वरूप के अनुसार था। बाद में वह ईरान और भारत की आगे बढ़ी हुई व्यवस्थाओं से मिला, जिनका आर्थिक आधार दूसरा था। इसलिये कबीलों की एकता के आर्थिक आधार पर स्थित दर्शन ने अपने भीतर तरमीम की, समझौते किये। भारत में इस्लाम ब्राह्मण व्यवस्था को न मिटा सका क्योंकि वह यहां की आर्थिक व्यवस्था के मूल ढाँचे का पर्य्याय था। दोनों साथ साथ जीवित रहे, यद्यपि अपने कट्टर प्रयत्न में इस्लाम ने भारत के बहुत से ज्ञान भण्डार को पहले जला दिया।

यह है भारत की जाति व्यवस्था का सांस्कृतिक रूप जिसको अंगरेजों के आने पर धक्का लगा और पुनर्जागरण की लहर उठी। मध्यकालीन सिद्धकाव्य, नाथकाव्य, संतकाव्य, भक्तिकाव्य, सूफी काव्य, और यहाँ तक कि रीतिकाव्य भी इसी लंबी परम्परा के दुरूह स्वरूप पर वैसे ही आधारित है, जैसे महाभारत, रामायण, जातक (त्रिपिटक), जैन ग्रन्थ, पुराण, संस्कृत के काव्य नाटकादि, इस पर आधारित हैं। यह भारतीय जीवन के आज तक के संघर्ष का मूलाधार है, जिस पर सबने प्रकाश डाला है। दास प्रथा के एक समाज का क्रमशः अपने को उसके अनुरूप बनाने का जो संघर्ष चला है, उसमें दासप्रथा के अवशेषों के रूप में ही जाति प्रथा जीवित रही है। इससे जो निरन्तर

संस्कृति के मानवीय मूल्यों ने युद्ध किया है वही समन्वय का मानवतावादी स्वर बनकर, साहित्य के यथार्थ का प्राण बनकर, उतरा है और उसी ने भारतेन्दु से आज तक प्रकारांतर से अपना विकास किया है। जो इसे नहीं देखता, वह भारतीय संस्कृति का अ आ इ ई भी नहीं जानता।

अङ्गरेजों का भारत में आना एक औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुआ और उससे भारतीय मध्यकालीन व्यवस्था को जबर्दस्त परिवर्त्तन झेलना पड़ा। उसने न केवल उसे झेला, वरन् अङ्गरेजों की सत्ता आई और अपना पूर्ण आवेश अंकित करके चली गई। भारतीय समाज अपने असंख्य दुर्गुणों के बावजूद एक जीवित शक्ति बनकर, फिर उदय हो रहा है, ऐसा कि जिसमें निकट भविष्य में फिर संसार का नेतृत्व करने की क्षमता दिखाई दे रही है। पतन उद्योग के विनाश पर प्रारम्भ हुआ।

१८२४ ई० में भारत में १०००,००० गज़ ब्रिटिश मलमल आई, जो कि १८९७ ई० में ६४०००००० गज़ हो गई और उसके साथ ही ढाका की आबादी १५०००० से २०००० रह गई।* इस प्रकार भारतीय ग्राम व्यवस्था की शान्ति टूट गई। न केवल ग्राम का 'अतिरिक्त धन' बाहर जाने से रुका, वरन् उसका अपना 'अतिरिक्त धन' बाहर जाने लगा। खेती मात्र का ही आधार रह गया। उससे दरिद्रता बढ़ चली। जातियों का पुराना संबंध जो मूलतः आर्थिक आधारों पर था, डाँवाडोल होने लगा और यद्यपि पुराने संबंधों की जर्जरता हावी रही वह नगरों में अपना स्वरूप बदलने लगी। देश एक नये मोड़ पर आया। वह भारतेन्दु कालीन व्यवस्था थी। द्विवेदी युग ने उस जागरण को आगे बढ़ाया जो कि देश को झकझोर कर जगाने की चेष्टा कर रहा था और देश नये तरीके से सन्नद्ध हो रहा था। यहाँ हमें विवेचन करते समय यदि मार्क्स के मतानुसार यह नहीं भूलना चाहिये कि यह छोटी ग्राम व्यवस्था, सदैव ही पूर्वीय निरंकुशतावाद का मूलाधार रही थी। वह मनुष्य के चिंतन को रोकती थी, एक घेरे के बाहर नहीं जाने देती थी और अन्धविश्वास की खान थी। परम्परा को निभाती थी, रूढ़ियों का दासत्व लादती थी और ऐतिहासिक शक्तियों का नाश कर देती थी। मार्क्स ने इसे

* आर्टिकल्स आन इण्डिया कार्ल मार्क्स पृ० २६

अपने शब्दों में बहुत दृढ़ता से कहा है। × तो दूसरी ओर इसकी उस अपराजित क्षमता को भी देखना चाहिये जिसने सदैव ही मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाया। मार्क्स का यह कहना सत्य है कि इस ग्राम व्यवस्था ने निरंकुशता को आधार दिया, किन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिये कि निरंतर यह ग्राम समाज अपनी सीमाओं के भीतर ही बदलता रहा। इसने अपराजित क्षमता को पाया कि यह किसी से लुप्त नहीं हो सका। इसकी मानवतावादी भावना इतनी प्रबल थी कि इसने प्रत्येक निरंकुश शक्ति का अन्ततोगत्वा सिर झुका दिया। यह बात दूसरी है कि रियायतें लेने के अतिरिक्त यह निरंकुशता को जड़ समूल नहीं पलट सका। उसका कारण था उत्पादन के साधन नहीं बदलना। अगर मार्क्स यह देख पाता तो यूरोपीय बुद्धि थोड़ा विकसित रूप प्राप्त करती।

यूरोप का इतिहास अपने कई उतार-चढ़ाव लिये हमारे सामने आता है, परन्तु भारत के इतिहास में क्या कम उतार-चढ़ाव है? उन पर किसी ने ध्यान दिया है। आइये यूरोप के प्राचीन जीवन की एक झलक भी देखें जिससे वस्तु सत्य का परिचय हो।

'ईसा से छः सौ वर्ष के पूर्व एटिक में पहला संकट आया। किसान बग़ावत करने वाले थे। निम्नतर वर्ग को केवल अपनी पैदावार (उत्पादन) का छठा भाग रखने का अधिकार था।'[१]

भारत में यह समस्या पौराणिक काल में उठी थी जिसका कोई निश्चित काल नहीं बताया जा सकता। कालान्तर में यह समस्या निरन्तर सामन्तीय जीवन में भी चलती रही थी। परन्तु उस पर निरन्तर ग्रामसमाज अपने अंकुश

× We must not forget that this stagnatory, undignified and vegetative life, that this passive sort of existence evoked on the other hand, in contradistinction, wild, aim less, unbounded forces of destruction & rendered murder it self a religious rite in Hindostan.

(Articles on India, Karl Marx pp. 11.)

१. एस्कायलस एण्ड एथेन्स—जॉर्ज टॉमसन पृ० ८७.

लगाता रहा। यूरोप का ग्रामसमाज भारत का सा समर्थ ग्राम समाज कभी भी नहीं रहा।

हमारे समाज में पुनर्जन्म की विचारधारा ने इसीलिये ज़ोर पकड़ा कि समस्या का हल ढूँढ़ने में इससे सहायता मिली। ऐसी विचारधारा विशेष युग में ग्रीस में भी उत्पन्न हुई थी।

'बालक की दीक्षा अर्थात् उसे बड़ों के समकक्ष रखने का प्रारम्भ पहले प्राचीन समाज में यों माना जाता था कि यह एक बार मर चुका है और फिर जन्म ले रहा है। + + प्राचीन आदिम समाज में नया बच्चा जब जन्म लेता है तब समझा जाता है कि कोई पूर्वज फिर जीवित हो गया है। ग्रीस तथा अन्य भूभागों में भी, संसार में यह नियम है कि नये बच्चे का नाम उसके बाबा आदि पर रखा जाता है।'२

वहाँ पुनर्जन्म का सिद्धान्त आगे नहीं चल सका, क्योंकि दास प्रथा झटके से टूटी। हमारे समाज में ऐसा नहीं हुआ, अतः वह चलती रही। दूसरे यूरोप का छोटा सा इतिहास है, हमारा विशाल है। यूरोप का प्राचीन काल अपने सच्चे रूप में ईसा के प्रायः ७०० वर्ष बाद समाप्त होता है। ७०० ई० से १६०० ई० तक सामन्तीय जीवन है, जिसके बाद फ्रेञ्च क्रान्ति से पूँजीवाद का उदय है और १९१७ ई० के बाद कुछ भाग में समाजवाद का युग है।

भारत में ईसा से ५०० वर्ष पूर्व सामन्तीय जीवन स्पष्ट दीखता है। तब से १८५७ ई० तक सामन्तीय जीवन रहा। ५०० ई० पू० से ७०० ई० पू० तक उसने कई रूपों के उतार-चढ़ाव देखे। ५०० ई० पू० से कितने पहले से दास प्रथा का समाज टूटकर विकसित हुआ यह निश्चय से तो नहीं कहा जा सकता परन्तु अन्य आधारों पर कम से कम महाभारत युद्ध का समय १६०० ई० पू० लगता है। दास प्रथा के इस पतन काल (१६०० ई० पू०) से कितने पूर्व इसका उदय हुआ यह निश्चय से नहीं बताया जा सकता।

इस लम्बे काल में मनुष्य की समानता का राग बार-बार उठाया गया और उसने मानवतावादी परम्परा की जड़ें बहुत मज़बूत कीं। इतनी मज़बूत कि व्यवहार में यद्यपि उत्पादन के साधनों पर निर्भर आर्थिक व्यवस्था निरंतर

२. स्काइलस एण्ड एथेन्स—जॉर्ज टॉमसन पृ० ९७.

उसके असली अमल में व्याघात डालती रही; फिर भी वह स्वर प्रत्येक युग में उठता रहा। उस स्वर ने भारतीय समाज को जीवित रहने की शक्ति दी। उसने एक बात कही जो 'हेरोस', जूविनल, बौइलू और संसार के महान लेखकों ने प्रत्येक युग में अपने समस्त ज्ञान और चातुर्य से यही प्रतिपादित किया है कि मनुष्य की श्रेष्ठता उसके जन्म से नहीं, उसकी अच्छाइयोंसे पता चलती है।'[1] यूरोप में यह चिन्तन कितना परवर्त्ती है? हमारे यहाँ यह कितना प्राचीन है! स्वयं यूरोप भी यह मानकर क्या इसे अमल में ला सका था? नहीं।

यह मानवतावादी स्वर यद्यपि ऐसे समन्वयवाद पर स्थिर है जो आज भी उसी ढर्रे पर चलना चाहता है, परन्तु क्या इसी से उसके ऐतिहासिक महत्त्व को भी हम अस्वीकार कर सकते हैं? नहीं। जिस प्रकार नये साधनों के रहते हमें ग्राम-समाज बदलना है, वैसे ही हमें उस स्वरको भी नया वैज्ञानिक आधार देना है, न कि उसे नष्ट करना है। बहुधा प्रगतिशील लोग इस देश की पुरानी संस्कृति और परम्परा की दुहाई देते हैं जब उन्हें राष्ट्रीय कहलाने की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु वे उसे समझते नहीं, क्योंकि यदि वे उसे समझते तो उसकी व्याख्या करके मार्क्स के निष्कर्ष का सुधार अवश्य करते- उसकी लकीर ही नहीं पीटे जाते।

अपने बिशप का चरित्र-चित्रण करते हुए एक जगह विक्टर ह्यूगो ने कहा है: "समस्त वेदियों में श्रेष्ठ है एक दुखी मनुष्य की आत्मा जिसे सांत्वना मिलती है और जब वह भगवान को धन्यवाद देता है। यही उसके मुख से सुनाई देता था।"

गत शताब्दी में यूरोप ने इस सत्य का अङ्कन किया जबकि समाज इतनी प्रगति कर चुका था। भारत ने न जाने कब कहा—सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु···

और—

वैष्णव जन तो तेणे कहिये
जो पीर पराई जाणे रे।

---

१. द गार्जियन, नम्बर १३६, पृ० २०२, १८७७.

२. ला मिज़राबुल्स, पृ० ११.

यह है परम्परा। यूरोप की नींव कितनी सी थी कि दीवार उठती ? भारत की नींव की गहराई कोई नाप सकता है।

मैं किसी गर्व से प्रेरित होकर ऐसी बात नहीं कहता, न मेरा मतलब यह है कि मैं कहूँ कि भारत का मुक़ाबिला कोई नहीं कर सकता। मेरा तात्पर्य केवल यह है कि भारत को समझने के लिये यहाँ की परिस्थिति, इसका विकास समझना आवश्यक है। रूस की पिछड़ी जातियों पर जिस प्रकार कम्यूनिस्ट पार्टी निरंकुश शासन कर सकी, भारतीय परम्परा की स्वतन्त्रता उसे सहज स्वीकार नहीं करती। अपने घोर श्रद्धालु रूप में भी भारतीय चिन्तन ने अपने विचार के अतिरिक्त अन्य के विचार को भी सुनने की सामर्थ्य रखी है। मेरा कहने का यह मतलब नहीं कि रूस पर आक्षेप कर रहा हूँ। नहीं। मैं केवल जनता की सांस्कृतिक विरासत के भेद की बात कर रहा हूँ। जिस प्रकार जर्मनी की जनता को भेड़ों की तरह हिटलर हाँक सका, वैसे भारत की भेड़ कहलाने वाली जनता असहिष्णु पागलपन के रँगों में बिरले ही समय रँगी हैं। और जब आवेश में आई भी है तब भी उसका विरोध भीतर ही हुआ है, जिसका प्रमाण पाकिस्तान के विभाजन और गांधी की मृत्यु में हम देख चुके हैं।

इस पक्ष की दूसरी निर्बलता भी है कि भारत विदेशियों के चरणों के नीचे निरन्तर आहत होता रहा है। एक समय वह उठता है तो फिर पददलित हो जाता है। यह इसके तर्क का ही दोष है—

समवामिकारणत्वं
द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्
गुणकर्ममात्रवृत्तिज्ञेयमथा
प्यसमवामि हेतुत्वम्।

अर्थात् समवामिकरण होना केवल द्रव्य ही का समान धर्म्य है, एवं असमवामि कारण होना केवल गुणकर्म्म ही का समान धर्म है।

(न्याय सिद्धान्त मुक्तावली. विश्वनाथ पञ्चानन. सं० १९५७ पृ० ३३)

केवल इतना ही नहीं। मैं व्यंग्य नहीं कर रहा हूँ! और भी इसमें एक खराबी है, कि इसने अपनी अभावात्मकता को गौरवान्वित किया है। आर्थिक मूलाधार शाश्वत लगते ही थे, विदेशी आते थे और मिट जाते थे। भारतीय

ग्रामसमाज इसीलिये कहता था—अरे ये आनी जानी माया है। किसी भी शोषकवर्ग की विचारधारा से शोषितवर्ग तब तक सहमत नहीं होता जब तक कि उसके पक्ष-प्रतिपक्ष में उसे उस प्रकार की कोई बात स्वयं ही दिखाई नहीं देतीं। और दर्शन के शब्दों में भारतीय ग्राम-समाज का रवैया यह रहा है :

जात्यन्तपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।

अर्थात् एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना प्रकृतियों के भरने से होता है।

(पातञ्जल योगसूत्र, कैवल्यपाद, सूत्र २,)

इस रवैये से जाति की सहनशक्ति तो बढ़ी किन्तु साथ ही एक प्रकार की जड़ता भी उसमें पैदा हुई और उसने उसके समन्वयवादी चिन्तन की व्यापकता को धीरे-धीरे छीनना प्रारम्भ किया। कैसा विचित्र लगता है यह द्वन्द्व कि इसका समानान्तर रूप प्राप्त होना ही कठिन सा दिखाई देता है।

भोजवृत्ति कहती है कि निमित्त जो धर्मादि हैं वे प्रकृति के अर्थान्तर परिणाम में प्रयोजक नहीं हैं (क्योंकि वे प्रकृति के ही कार्य्य हैं) कार्य्य से कारण को प्रेरणा नहीं होती।१

दर्शन के इस रूप ने अपने वाह्य जीवन को समेटना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे भारतीय समाज की व्यापकता एक सीमा तक पहुँचकर रुक गई।

इस प्रकार हमने भारतीय संस्कृति के समन्वयवादी स्वरूप की निर्बलता और शक्ति को उसकी अनुकूल परिस्थितियों में उसे रखकर देखा और अपने विवेचन का गत्यागत्य आधार भी स्पष्ट कर दिया।

---

१. पातंजल योगसूत्र, स्वामी ओमानन्द, पृ० ३४७,

- ? -

साहित्य अपने नये मानदण्डों की ओर आकर्षित हो रहा है और इसलिये अपनी पृष्ठभूमि का अध्ययन पहले से भी अधिक गम्भीरता से करना चाहता है।

एक समय था जब विभिन्न प्रकार के काव्यों की उपस्थिति में भी उनकी विविधता का विश्लेषण नहीं किया जाता था। केवल मूल्यांकन की कुछ ऐसी विविध कसौटियाँ थीं जिन पर उन विविध प्रकार के काव्यों को कस लिया जाता था। उसका परिणाम क्या हुआ? परिणाम यह हुआ कि आलोचना या तो टीका का रूप धारण कर गई, जो रूप हमें मल्लिनाथ में मिलता है, या मतांतर प्रतिपादन हो गया। उसके लिये उद्धरण दिये जाने लगे। उसके बाद की अवस्था यह हुई कि कवि विशेष को एक सीमित कसौटी पर परखा जाने लगा। आज हिन्दी के अध्यापकवर्ग की आलोचना प्रायः इसी में बहुतायत से सीमित है, और वे इसे शास्त्रीय कहते हैं। रस, अलंकार और प्रकरी, पताका से वे आगे नहीं बढ़ते। आलोचना जैसी बौद्धिक वस्तु को उन्होंने निष्प्राण और यान्त्रिक बना दिया है। आचार्य शुक्ल ने आलोचना को नया पथ दिया था, जो उनके बाद विकसित नहीं हो सका। समाजशास्त्र के नाम पर तथा-कथित प्रगतिवादियों ने कुत्सित समाजशास्त्र-मात्र को ही आलोचना का सर्वस्व कह कर प्रतिपादित किया।

इस प्रकार आलोचना से प्रेरणा मिलना तो कम हो गई। साहित्य में लेखकों में गुट्टबन्दी और वैमनस्य का सूत्रपात हुआ। अध्यापकों की मनोवृत्ति

यह रही कि जो कोर्स में आने वाली चीज हो उसी पर लिखना लाभदायक है अतः वे नये साहित्य की जागरूक प्रवृत्तियों के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं। आज भी आलोचना के नाम पर किसी पुराने कवि के भी कोर्स में आजाने पर उस पर ढेरों किताबें निकल पड़ती हैं और उनमें मौलिकता प्रायः नहीं होती।

आलोचना शास्त्र के लिये नहीं हैं, जीवन के लिये है। शास्त्र जीवन की एकमात्र कसौटी नहीं है, वह युग विशेष का सापेक्ष ज्ञान है, जिसे उस युग से अलग करके देखना उचित नहीं है। जीवन के जिस वैविध्य का प्रतिनिधित्व दिन-दिन साहित्य में हो रहा है, उसका मूल्यांकन करने के लिये उतने ही विस्तृत और व्यापक मानदण्डों की भी आवश्यकता है।

आलोचना स्कूली चीज़ नहीं है, साहित्य का एक जागरूक अङ्ग है। उसके प्रति हमें काफ़ी विचारशीलता से काम लेना चाहिये। हमारी विचार-शीलता सापेक्ष होती है और इसीलिये आलोचना मौलिक साहित्य की तुलना में कम स्थायी महत्त्व रखती है। मेरा तात्पर्य यह है कि मौलिक साहित्य सदैव प्रेरणा देता है, और आलोचना का आगे चलकर केवल ऐतिहासिक मूल्य शेष रह जाता है क्योंकि विचार काफ़ी बदल जाते हैं।

प्रगति के विषय में मैंने अन्यत्र काफ़ी विश्लेषण किया है, किंतु कुछ आलोचकों ने महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं, जिनका उत्तर देना आवश्यक है।

मेरा स्पष्ट कथन है : 'प्रगति जन-कल्याण है, कितनी अधिक, कितनी कम, इसका निर्धारण प्रगतिशीलता के मानदण्ड कर सकते हैं। प्रगति संसार में सदैव रही है—जीवन में भी, साहित्य में भी, किंतु अब जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं, वह सामाजिक तथा राजनीतिक विश्लेषण के आधार पर स्थित है और उसी के आधार पर हम किसी कवि को तत्कालीन समाज और तत्कालीन राजनीति में सापेक्ष्य रूप से रखकर उसकी आलोचना करते हैं।'

श्री राजेन्द्रप्रसादसिंह इस पर (आलोचना में) निम्नलिखित विचार प्रगट करते हैं : प्रगति के संबंध में हमारी यह 'अब' की धारणा निश्चय ही प्रगति के क्षेत्र को 'विचार' की स्वतंत्र विकास-परिधि से हटाकर 'व्यवस्था' के सक्रिय वृत्त में ला देती हैं और मात्र-व्यवस्था के आधार पर विचार को अवलम्बित सिद्ध कर, 'प्रगति' के अर्थ को सीमित कर, 'प्रगतिशीलता' बना देती है।

उपर्युक्त धारणा में 'विश्लेषण' को ही आधार माना गया है, जो सामाजिक और राजनीतिक होने के कारण मनोगत मूल्यों के प्रति पूर्ण न्याय की शक्ति नहीं रखता, यह प्रायः सिद्ध ही है। मनोगत मूल्यों की स्थिति व्यक्ति की विशिष्टताओं पर ही बहुत कुछ निर्भर रहती है, यद्यपि सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव, उसकी व्यावहारिक गति-विधि के माध्यम से, उस स्थिति के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लेता है।'

मेरे मित्र आलोचक ने 'अब' पर आक्षेप उठाया है और 'अब' में सीमित संकीर्णता की छाया पाई है। मैं इसे स्पष्ट करदूँ। प्रगति संसार में सदैव रही है, का अर्थ यह है कि निरन्तर समाज विकास करके जन-कल्याण की ओर अग्रसर होता रहा है। किंतु अपने विकास की, मनुष्य पहले वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर सका था। 'अब' क्योंकि हम सामाजिक और राजनीतिक वस्तुस्थिति का विश्लेषण कर सकते हैं, और परिस्थिति का सांगोपांग विवेचन कर सकते हैं, हम उस 'प्रगति' से अज्ञानी नहीं हैं, वरन् उसके जानकार होगये हैं और इसीलिये हम आज ही का नहीं, पुराने युगों का भी विवेचन कर सकने में समर्थ हें। हम 'आज' में ही प्रगति को सीमित नहीं कर देते, हम तो यह मानते हैं कि इस प्रकार की व्याख्या करने का ज्ञान होने के पहले भी समाज अपना विकास करता रहा है। अब हम केवल उस विकास क्रम को समझ गये हैं। पहले 'परिवर्त्तन' को ही प्रगति कहा जाता था, जैसे हेगेल कहा करता था कि जो कुछ जिस युग में होता है, वही उस युग के लिये सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु 'अब' प्रगति केवल परिवर्त्तन ही नहीं है, वह सामाजिक और राजनीतिक विश्लेषण के आधार पर स्थित है। हमारा यह 'अब' का दृष्टिकोण हमारे नये चिंतन का पर्य्याय है।

दूसरी बात है, 'विचार' की स्वतन्त्र विकास परिधि और व्यवस्था के सक्रिय वृत्त के विरोधात्मक स्वरूपों का परस्पर यहाँ टकरा जाना। यह सत्य है कि व्यक्ति से विचार जन्म लेता है, परन्तु यह भी सत्य है कि व्यक्ति का कोई भी विचार युग सापेक्ष होता है, युग निरपेक्ष नहीं होता। विचार का विकास व्यवस्था का अनुशीलन करता है। कार्लमार्क्स ने जब हेगेल की द्वन्द्वात्मकता और फ़्यूअरबाख़ की भौतिकवादी धारणा को मिलाकर प्रस्तुत किया था, तब

उसके कुछ प्रशंसकों ने कहा था कि मार्क्स ने अकस्मात् ही ऐसा कमाल कर दिखाया है, जो कभी पहले नहीं हुआ। तब एँगिल्स ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा था कि ऐसी विचार स्वतन्त्रता की बात का कोई सामाजिक आधार नहीं है। यदि मार्क्स न होता, तो कोई दूसरा इस काम को करता। इतिहास ही व्यक्तियों से निरंतर काम करवाता है। परिस्थितियाँ विचारों को जन्म देती हैं। उदाहरणार्थ : कमाल अतातुर्क का तुर्कीलिपि हटाकर रोमन लिपि करना परिस्थितियों का परिणाम था। इसी प्रकार के कई उदाहरण दिये जा सकते है। यहाँ अवश्य एक खतरा पैदा होता है जिसे स्पष्ट करना आवश्यक है। बुद्ध के विषय में लोगों को धारणा है कि अचानक ही उन्होंने ऐसी 'अनात्म' वाली विचारधारा को प्रस्तुत किया था। इसके लिये हमें इतिहास को देखना पड़ेगा।

१] महाभारत युद्ध के बाद दार्शनिक युधिष्ठिर (क्षत्रिय) में पहले-पहल वर्णव्यवस्था, वेद व्यवस्था के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है, किन्तु वे कोई मार्ग नहीं पाते।

२] कालान्तर में दार्शनिक जनक (क्षत्रिय) में यही परेशानी बढ़ती है, वे सुख-दुख में सम होने का व्यक्तिपरक हल निकालते हैं।

३] उपनिषदों में ब्रह्म का विकास होता है। छोटे-छोटे देवी-देवताओं के भेद भाव को छोड़कर सबसे ऊपर 'ब्रह्म' को माना जाता है। उस ब्रह्म को आगे चलकर 'नेतिनेति' का रूप दिया जाता है, क्योंकि तत्कालीन ज्ञान का कोई भी माध्यम उसे समझा नहीं सकता।

४] कपिल कहते हैं कि ऐसा 'नेति नेति' वाला ब्रह्म तो असिद्ध है, जो कुछ संसार में चल रहा है, वह प्रकृति पुरुष का खेल है।

५] जैन तीर्थङ्कर कहते हैं ब्रह्म तो है ही नहीं, जो करती है प्रकृति करती है। आत्मा की स्थिति के माध्यम से व्यक्ति को शुद्ध होना चाहिये।

६] बुद्ध कहते हैं, न ईश्वर है, न आत्मा है, केवल प्रकृति है। और प्रकृति को मानकर भी बुद्ध का दर्शन भौतिकवादी नहीं है

७] चारवाक कहते हैं कि यह सब भौतिक है और सब झूंठ है।

८] पूर्वमीमांसा परमात्मा को नहीं मानती, परन्तु 'वेद' को मानती है।

६] उत्तर मीमांसा तक 'ब्रह्म' लौट आता है ।

विचारों का यह एक क्रम विकास है, अचानक कुछ नहीं हो जाता । बुद्ध भी भारतीय चिंतन की एक कड़ी मात्र हैं । अब यदि हम इसी क्रम से सामाजिक परिस्थिति को देखें तो बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा ।

१] युधिष्ठिर के समय में आर्य्यशक्ति का ह्रास हुआ । पुराने मानदण्ड तृप्ति देने में असमर्थ हो गये ।

२] जनक ने समाज की विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया । वे असमर्थ रहे । व्यक्ति के रोग आदि को उन्होंने, अपनी युग-सीमा के कारण, धनी, दरिद्र के भेद भाव के साथ ही मिलाकर देखा । रोग आदि प्रकृति के नियम थे, धनी दरिद्र आदि समाज के नियम थे । वे दोनों को अलग नहीं कर सके ।

३] जातियाँ परस्पर घुलमिल रही थीं । असुर, नाग, किन्नर, यक्ष, गंधर्व आदि सब ही जातियाँ आर्य्य कबीलों से घुलमिल रहीं थीं । अन्तर्भुक्ति बढ़ रही थी । ब्राह्मणों ने समाज का यहाँ कल्याण किया । एक ऐसा 'ब्रह्म' बना जो सब का हो सके । परन्तु सृष्टि का रहस्य नहीं जान पाने के कारण वे अंततोगत्वा उस 'ब्रह्म' की व्याख्या नहीं कर सके और ब्रह्म 'सबके लिये' बन कर भी दुरूह होगया । उस ब्रह्म की 'महानता' का सामाजिक नियमों से तादात्म्य नहीं हो सका ।

४] कपिल ने अपने दर्शन से यह व्याख्या की कि प्रकृति और पुरुष काम कर रहे हैं, ईश्वर असिद्ध ही है । कपिल क्षत्रिय थे, परन्तु वे ब्राह्मणों से, युग-सीमा के कारण, अपना नाता एकदम नहीं तोड़ सके ।

५] जैन क्षत्रिय तीर्थङ्कर ने, ब्राह्मणों के विरुद्ध अपना दर्शन प्रस्तुत किया उन्होंने कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि को काटा और ईश्वर का विरोध किया, जिसके नाम पर अब ब्राह्मण अपने पुराने कर्मकाण्ड को फिर से जीवित करने की चेष्टा कर रहे थे ।

६] बुद्ध ने क्षत्रिय विद्रोह को और उठाया । एकदम दो टूक बात की । और क्षत्रियों द्वारा प्रतिपालित दास प्रथा के ये अनजाने ही समर्थक बन गये, क्योंकि उनकी पूरी बात को नहीं माना गया ।

७] चारवाक ने उठते हुए शूद्रों और दासों के चिंतन का प्रतिनिधित्व किया और भौतिकवाद पर अत्यधिक बल दिया, परन्तु उनकी युग सीमा थी कि उनका भौतिकवाद इतना भोग परक और जड़वादी होगया कि स्वयं मनुष्य के विकास ने उसे स्वीकार नहीं किया।

८] पूर्वमीमांसा के उदय के समय सामंतीय व्यवस्था बर्बरदास प्रथा को हटा रही थी। और भाग्यवाद के स्थान पर 'पौरुष' स्थान ले रहा था। ब्राह्मणों ने अपने कर्मकाण्ड को तो जीवित रखा, परन्तु वे ईश्वर की आवश्यकता को छोड़ बैठे।

६] जब सामंतीय व्यवस्था जम गई तब वेदान्त का विकास हुआ। ब्रह्म फिर लौटा। ब्राह्मण धर्म ने भी विकास किया। समाज में भागवत संप्रदाय का उदय हुआ।

इसी प्रकार हम आधुनिककाल तक विचारों का क्रम विकास देख सकते हैं। इससे प्रगट होता है कि विचार स्वातंत्र्य व्यक्ति में अचानक नहीं आता, वह मूलतः सामाजिक परिस्थिति से प्रेरित होता है।

सब व्यक्तियों की मेधा एक सी नहीं होती। कोई अधिक बुद्धिमान होता है, कोई कम। अधिक बुद्धिमान व्यक्ति युग की परिस्थिति का पहले ही प्रतिनिधित्व करता है, पहले ही सोच लेता है। इसलिये कि व्यक्ति ही समाज का अङ्ग है, व्यक्ति के माध्यम से ही समाज अपना काम कराता है। यह कभी भी आवश्यक नहीं है कि शोषित वर्ग का व्यक्ति ही शोषित वर्ग का हिमायती बनता है। कोई भी व्यक्ति युग का कल्याण कर सकता है। कार्लमार्क्स उच्चवर्गीय व्यक्ति था और उसने जन समाज के लिये काम किया। हिटलर मज़दूर था, परन्तु उसने निम्न वर्गीय जनता को कुचलना चाहा था। अतः इस विवेचन से यह बातें सिद्ध हुईं :

१] कोई भी विचार स्वातंत्र्य युग निरपेक्ष नहीं होता।

२] कोई भी वर्ग किसी व्यक्ति की चेतना को मशीन जैसा नहीं बना सकता।

३] व्यक्ति युग के प्रति, किसी भी वर्ग में से, सचेत रह सकता है।

४] वर्ग और व्यक्ति का यद्यपि यह संबंध प्रगट है कि व्यक्ति वर्ग से

बाहर की चेतना को भी ग्रहण कर सकता है, परन्तु अधिकतर लोग वर्ग का स्वार्थ वर्ग पोषण करते हैं। व्यक्ति और वर्ग का भेद—अँगरेज़ शासकों और सी० एफ० एन्ड्रूज़ के द्वारा समझना चाहिये। ब्राह्मण रूढ़िवादियों में से निकले स्वामी दयानंद से समझना चाहिये। व्यक्ति समाज निरपेक्ष नहीं हो सकता, वह अपने व्यक्तिगत रूप में वर्गनिरपेक्ष अवश्य हो सकता है; व्यक्ति की चेतना जब वर्ग से निकल समाज चेतना से मिलती है, तब वह व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। व्यक्ति की कोई भी स्वतन्त्रता ऐसी नहीं होती जो उसे युग-निरपेक्ष और समाज निरपेक्ष बना देने की सामर्थ्य रखती हो।

इस प्रकार न 'अब' से संकीर्णता होती है, न व्यक्ति के विचार स्वातंत्र्य का हनन होता है। 'विश्लेषण' ही तो मूलाधार है। मनुष्य का कौन सा 'मनोगत मूल्य' है जो सामाजिक और राजनीतिक नहीं है? यदि ऐसा कोई है, तो वह इतना व्यक्तिवादी मूल्य है कि उसका कोई महत्त्व ही नहीं। यदि 'राज-नीति' कह कर हम चुप रह जाते तो अवश्य ही संकीर्णता का उदय होता, किन्तु जब 'समाज' को साथ लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति' के 'सांगोपांग जीवन' को दृष्टि के सामने रखते हैं। मेरे मित्र आलोचक ने 'मनोगतमूल्य' को 'सामाजिक और राजनीतिक विश्लेषण' से दूर रखकर उसके साथ स्वतः सिद्ध हो जाने वाले न्याय की ओर प्रमाणहीन इङ्गित किया है। जब हमारे सौंदर्य, सत्य और शिवत्व की संपूर्ण भावनाएं व्यक्ति के विकास की ओर ले जाती हैं और व्यक्ति का यह विकास समाज पर आश्रित रहता है, तब हम किस 'मनो-गत मूल्य' को सबसे ही निरपेक्ष बनाकर प्रस्तुत कर सकते हैं? मनोगत मूल्य की स्थिति व्यक्ति की विशिष्टताओं पर निर्भर होती है, परन्तु वहाँ मेरे मित्र आलोचक स्वयं ही स्वीकार करते हैं कि—'सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव, उसकी व्यावहारिक गतिविधि के माध्यम से, उस स्थिति के निर्माण में महत्त्व-पूर्ण भाग लेता है।' फिर परेशानी कहाँ बचती है? वह यहाँ बची रह जाती है:

मेरे मित्र विचारक यह समझते है कि राजनीति और सामाजिक विश्लेषण का अर्थ है 'व्यक्ति की 'स्वतन्त्रता' को छीन कर, उसे वर्गों के हाथ का कठ पुतला समझना। वह यह समझते हैं कि व्यक्ति की 'नेकनीयत' पर पर्दा डाला

जाता है। वे यह समझते हैं कि व्यक्ति को वर्ग का ऐसा दास समझा जाता है कि उसे वर्ग स्वार्थ का वाहकमात्र बनाया जा रहा है। उनका ऐसा भय निर्मूल नहीं है। कुत्सित समाजशास्त्री ऐसा कह चुके हैं, और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में ऐसे लोग क्योंकि अभी मौजूद हैं, मेरे मित्र का आतंकित हो जाना सहज स्वाभाविक है।

तब यह विषय स्पष्ट हुआ।

आगे श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह फिर मेरा एक उदाहरण देते हैं जो इस प्रकार है: 'समाज में ही मनुष्य का इति अथ है। अतः प्रगतिशील विचारक उन सब विचार धाराओं को गलत मानता है, जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती है।'

और फिर स्वयं वे यों कहते हैं—'व्यक्ति की उन विचार धाराओं को वह (लेखक: रांगेयराघव) ठीक नहीं समझता जो समाज में शोषण को प्रश्रय देती है और मनुष्य को मनुष्य से प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से घृणा करना सिखाती हैं। अवश्य ही ऐसी विचार धाराओं का खण्डन होना चाहिये, यदि उनके पीछे सामाजिकता, सर्वाङ्गीणता, बन्धुत्व और साम्य के विरुद्ध षड्यन्त्र कर स्वार्थ-पोषण का लक्ष्य छिपा रखा गया हो, और उनकी सैद्धांतिक स्थापनाओं में आत्मानुभूति के बदले मात्र बिडम्बना भरी हो, साथ ही उनके द्वारा निर्दिष्ट आचार-विधान सिद्ध होता हो कि समकालीन युग-चेतना के विकास की सीमा को वर्ग स्वार्थ के लिये ही संकीर्ण कर लिया गया। ऐसा इसलिये कि युग-चेतना की विकास सीमा के कारण, सामाजिक वर्ग-स्वार्थ के पोषण की प्रवृत्ति सुप्त रहने पर, जो विचार धाराएँ व्यक्तियों की आत्मानुभूति से सहज ही फूटकर समाज में स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होती हैं, उन पर आधुनिक वर्ग विश्लेषण की दृष्टि से वर्गस्वार्थ के लिये षडयन्त्र का आरोप करना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है।'

आलोचक महोदय ने यहाँ दो बातें कही हैं—

१—वे यह मानते हैं कि आज के युग में क्योंकि यह वर्ग विश्लेषण का ज्ञान मौजूद है, इसलिये जो आज समाज को रोकते हैं उन पर तो 'षड्यन्त्र' करने का आरोप लगाया जा सकता है।

२—परन्तु जब वर्ग विश्लेषण का ज्ञान नहीं था, तब 'षड्यन्त्र' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'युग–सीमा' थी और 'सहज आत्मानुभूति' के द्वारा मनुष्य समाज में कार्य्य किया करता था।

पहली बात तो यह है कि जब हम किसी विचारधारा को असामाजिक कहते हैं तब उस विचारधारा को आज की विचारधारा से तुलना करके नहीं देखते, वरन् उसी समय की उस विचारधारा से मिलाकर देखते हैं, जिससे तुलना करके हम 'प्रगति' या 'प्रतिक्रिया' सिद्ध करते हैं। जो विचारधारा तत्कालीन युग की तुलनात्मक परिस्थिति में अधिक 'प्रगतिशील' दिखाई देती है, उसी को प्रगति कहते हैं। उदाहरणार्थ : संतों का वर्णाश्रम विरोध देखकर ही हम तुलसी के वर्णाश्रम स्थापन को 'प्रगति' के विरोध में मानते हैं। मुग़ल साम्राज्य में दलित कृषक और जनता को देखकर 'पुनरुत्थान की भावना' के उस पक्ष के कारण तुलसी में हम 'प्रगति देखते हैं, जो जनता को एक कर रहा था। 'प्रगति' ढूँढने का अर्थ 'अच्छा-बुरा' कहकर एक दम त्याग करना नहीं है, हमें सापेक्ष दृष्टिकोण रखना है।

दूसरी बात यह है कि हम 'षड्यन्त्र' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं करते, क्योंकि हम ऊपर अभी फिर स्पष्ट कर आये हैं कि व्यक्ति को हम वर्गस्वार्थ की कठपुतली नहीं समझते।

तीसरी बात यह है कि आज भी जब बूढ़े दादा या दादी गण्डे-तावीज़ में विश्वास करते हैं और छुआछूत को ही धर्म भी मानते हैं, तब हम उन्हें षड्-यन्त्रकारी नहीं कहते, वह उनकी 'सहज स्वानुभूति' ही है, जो उन्हें उसी रास्ते पर चला रही है, भले ही अब वर्ग विश्लेषण का ज्ञान मौजूद हो। मेले की भीड़भाड़ में जब ताँगेवाले या रिक्शावाले किराया बढ़ा देते हैं तब हम यह व्याख्या नहीं करते कि पूँजीवादी व्यवस्था की चोरबाज़ारी को स्थापित करनेके लिये षड्यन्त्र हो रहा है।

समाज में व्यक्ति वर्ग का एक षडयन्त्रकारी नहीं होता, और यह भ्रम कुत्सित समाजशास्त्र के द्वारा उत्पन्न किया गया है। व्यक्ति अपनी परम्परा के अनुसार अधिकांशतः कार्य्य किया करते हैं। जाने या अनजाने ही वे समाज के नियमों का पालन या खण्डन करते हैं।

इसलिये जब हम किसी एकांगी विचारधारा को गलत मानते हैं तब पहले युग विशेष से सापेक्षत्व की पूर्ण अपेक्षा करते हैं, और फिर विचारधाराओं को व्यक्ति की 'नीयत' से न जोड़ कर, उसके सामाजिक पहलू को देखते हैं, क्योंकि विचार व्यक्ति द्वारा जब अपनी स्वानुभूति के परे परानुभूति के पास पहुँचाया जाता है, तब वह व्यक्तिगत नहीं रह जाता, उसका दायित्व सामाजिक हो जाता है। जिस तरह धोखे से छली गई, मुरव्वत में हामला होनेवाली बेवा, कैसी भी भोली-भाली क्यों न हो, परंतु उसकी संतान की समाज पर ही जिम्मेदारी आती है, उसी प्रकार भले ही भोले भाले आदमी को छला जाये, और वह सहज रूप से किसी विचार को जन्म दे, तो विचार का भी एक सामाजिक उत्तरदायित्व हो जाता है। हम मानते हैं कि विधवा भोली है, विचारक भोला है, युग की सीमा है कि वह विवाह नहीं कर सकती, विचारक और कुछ सोच नहीं सकता, दोनों की नीयत साफ़ है, और संतान और विचार अपने आप में पवित्र हैं, भोले हैं, पर हम तो उन दोनों को सामाजिक परिस्थिति में रखकर देखेंगे। संतान और विचार इतने पवित्र हैं कि उन्हें अस्वीकार करने वाले समाज को ही बदलने की आवश्यकता है, तो हम इसे भी स्वीकार कर लेंगे, परन्तु फिर भी व्यक्ति की 'सहज स्वानुभूति' का वर्ग विश्लेषण की सामाजिकता से पीछा नहीं छूटता। यह अन्योन्याश्रय अखण्ड है। भगवान राम ने नियम विरुद्ध जान कर जानकी का अपनी युग सीमा में परित्याग कर दिया। भवभूति ने अपनी युग सीमा में राम को ठीक नहीं कहा। प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों में गोवत्समांस खाना उचित था। सब ही खाते थे। भवभूति ने इसका मजाक उड़ाया, अपनी युग सीमा ने उसे प्रभावित किया। युग सीमा सदैव प्रभावित करती है। भगवान राम ने युग सीमा के कारण, उचित और न्याय्य समझकर शम्बूक शूद्र को तप करते देख कर उसका वध किया, द्रोण ने आर्य शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये अपनी युगसीमा में एकलव्य का अंगूठा कटवा दिया। अपनी युग सीमा की परिधि में राक्षसराज रावण ने समाज की सहज परम्परा में वैदेही का अपहरण कर लिया, क्योंकि राक्षस विवाह में नारी का अपहरण स्वीकृत था, न्याय माना जाता था। बताइये इन युग सीमाओं और सहज स्वानुभूतियों का विश्लेषण राजनैतिक और सामाजिक

परिस्थितियों से अलग करके कैसे देखा जा सकता है ? मेरे आलोचक मित्र में हेगेल बोलता है कि जो जिस युग में होता है, वही ठीक है क्योंकि जब वर्ग विश्लेषण का ज्ञान ही नहीं था, तब सत् और असत् का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

परन्तु हम इस विचार से सहमत नहीं हैं । हम राजनीतिक और सामाजिक वर्ग विश्लेषण करते है तो हमारा कथन यों होगा : राम ने सीता को अपनी युग सीमा के कारण त्याग दिया । उस नारी का समाज में स्थान गिरा हुआ था । एक ओर पितृसत्ता में यह परिस्थिति थी तो दूसरी ओर राक्षसों का समाज था जिसमें स्त्री को सामग्री मानने वाली प्रणाली को माना था । राम ने स्त्री को उस पतितावस्था से मुक्त किया, उसको सामग्री नहीं माना, परंतु राम की भी युग सीमा थी कि स्त्री को उन्होंने पातिव्रत के माध्यम से ही महत्व दिया ।

हम 'सहज स्वानुभूति' में षडयन्त्र का प्रश्न ही नहीं उठाते । युग सीमा को देखते समय हम व्यक्ति से जोड़-तोड़ नहीं करते, उस समय की विचारधाराओं का तत्कालीन परिस्थिति में सापेक्षरूप देखकर उनका इतिहास में एक क्रम-विकास देखते हैं । उदाहरणार्थ : आर्य्य तब अनार्य्य से घृणा करते थे । राम ने अनार्य्यों को मित्र बनाया । आर्य्यों में यह विचारधारा बढ़ी थी तभी राम जैसे युगचेतन 'व्यक्ति' में उसने अपना प्रतिफलन पाया । यदि जैन स्रोतों का अध्ययन किया जाये तो किसी भी पाठक को स्पष्ट दिखाई देगा कि रावण के आतंक और अत्याचार से उस समय के वानर और ऋक्ष आदि अनार्य्य कितने पीड़ित थे । वे स्वयं किसी ऐसे संगठन की आवश्यकता का अनुभव करने लगे थे जो रावण के अतिचार को समाप्त कर सके । इतिहासकारों का मत है कि सेठ अमीचंद इस्लामी धर्मानुयायी शासक सिराजुद्दौला को हटाकर, अँगरेजों की सहायता लेकर, एक हिन्दू राज्य बनाने के स्वप्न देखते-देखते, मूर्ख बन गया । हम अब सेठ अमीचंद की 'सहज स्वानुभूति' देखें कि सामाजिक परिणामों का अध्ययन करें ? भले ही वह 'राम-राज्य' चाहता हो, परन्तु वह तो राष्ट्र के प्रति 'गद्दार' बन गया । वह बिचारा राजनीतिक और सामाजिक परि-

स्थितियों का वर्ग विश्लेषण तो जानता नहीं था, फिर उस पर क्यों दोष थोप दिया जाये ?

ग्वालियर के जागीरदार पुराने रईस थे। हिन्दू मराठा राज्य की कल्पना कर रहे थे। अतः राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से उनका स्नेह हो गया। राष्ट्रीय-स्वयं सेवक संघ के लोग वर्ग चेतना का विश्लेषण जानते नहीं, या उसे मानते नहीं, वे तो बिचारे धर्म राज्य स्थापित करना चाहते थे। गोडसे एक पुरानी विचारधारा का देशभक्त था। उसका अपना तो कोई 'स्वार्थ-पोषण' था नहीं, 'सैद्धान्तिक स्थापनाओं में' उसकी 'आत्मानुभूति' जाग्रत हो गई थी 'युग-चेतना की विकास-सीमा के कारण' (अचेत रहने वाले की सीमा की मर्यादा ही कौन जान सकता है) 'सामाजिक वर्ग स्वार्थ के पोषण की प्रवृत्ति उसकी सुप्त थी ही, उसके द्वारा महात्मा गांधी की मृत्यु को देखकर, क्या हम उसे बुरा कह सकते हैं ?

निश्चय ही मेरे मित्र आलोचक को फिर से अपने को ठीक करना पड़ेगा। उन्हें यह मानना होगा कि कैसा भी सीधासादा व्यक्ति हो, वह अपनी युग-सीमा में, जब जीवित रहता है, तब उस पर वर्ग व्यवस्था का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता ही है और भले ही ऊँची जाति में जन्म लेने वाला अपने सहज विश्वास से जाति प्रथा की ऊँचाई-निचाई को ठीक मानता हो, वह प्रत्यक्ष या परोक्ष भाव से जातिव्यवस्था का समर्थक बन ही जाता है।

परन्तु आलोचक बन्धु को मेरी यह बात रुची है जो उन्होंने आगे चलकर उद्धृत की है, जो यों है—

'प्राचीनों की सीमाएँ थीं। वे जिस युग में रहते थे, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते थे। कार्ल मार्क्स से पहले यह ज्ञान समाज को नहीं था।'

अतः इस उद्धरण के आधार पर वे कहते हैं : 'तब ऐसे आरोपों पर भी पुनर्विचार होना चाहिये। विचारधाराओं के एकांगी होने की बाबत भी कुछ ऐसी ही बात है। जिसे हम आज एकांगिता समझते हैं, वह कभी मूल रहस्य या अनिवार्यता के रूप में भी मानी गई हो सकती है। ऐसी विचारधाराएँ अपने युगपरिवेश में अपेक्षाकृत प्रगतिशील भी सिद्ध हो सकती है, जिसे

स्वीकार करने के लिये व्यापक सामाजिक मानदण्ड आवश्यक है। रांगेयराघव बहुत दूर तक उस उदार मानदण्ड के समर्थक और प्रयोक्ता हैं, किन्तु सहज आत्मचिन्तन के द्वारा उद्गत प्राचीन व्यक्तिवादी विचार-सरणियों की मूलगत निर्लेपता पर वे विश्वास पूर्वक ज़ोर नहीं देते—मात्र इसलिये कि इतिहास की दृष्टि से समाज व्यवस्था पर उनके फल शोषण-प्रधान हुए। किसी समाज-व्यवस्था को जब तक उसके लोग वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से निर्मित और स्वीकृत नहीं करते, तब तक उस पर शोषण-प्रधान होने का आरोप ठीक नहीं, वह समकालीन युग-चेतना की विकास-सीमा के अनुसार आदर्श व्यवस्था के रूप में भी स्वीकृत हुई हो सकती है। तब तत्कालीन शोषक-शोषित-सम्बन्ध में भी घृणा और विश्वास के बदले औचित्य और सन्तोष का शान्तिमय वातावरण मान लिया जायगा। ऐसी स्थिति में, एक कालखण्ड में मानी गई प्रगति को उसके लिये ही, भविष्य में प्रतिक्रिया नहीं माना जायगा।'

आलोचक महोदय वर्गविश्लेषण के राजनीतिक और सामाजिक आधार पर हुए विवेचना का विभाजन चाहते हैं।

१—पहली परिस्थिति में वर्ग संघर्ष की जानकारी रखने वाले युग के मूल्यांकन का वह दूसरा मानदण्ड चाहते हैं।

२—और दूसरी परिस्थिति में वर्ग संघर्ष की जानकारी रखने वाले युग के मूल्यांकन का वह दूसरा ही मानदण्ड चाहते हैं। 'षडयन्त्र' 'व्यक्ति की सहज स्वानुभूति' को जिस प्रकार उन्होंने सत्य को खण्डित करने केलिये प्रयुक्त किया है, उसके अनुरूप ही वे मानदण्ड के ही वैभिन्य को चाहते हैं क्योंकि वे मूलतः इतिहास में चलने वाले वर्गसंघर्ष की धारा को नहीं मानते। वे यह समझते है वर्गसंघर्ष वहीं से प्रारम्भ होता है जहाँ से उसकी जानकारी प्रारम्भ होती है और क्योंकि पहले के लोग वर्गसंघर्ष की जानकारी नहीं रखते थे, अतः तब वर्गसंघर्ष भी न था, और था भी तो वह ऐसा था कि उसकी परख भी दूसरे ही प्रकार की होनी चाहिये क्योंकि वह वर्गसंघर्ष व्यक्ति पर अधिक आश्रित था।

जब हम विचारधाराओं के एकांगी होने की बात करते हैं तब निस्सन्देह उन्हें आज की विचारधाराओं से मिलाकर नहीं देखते, हम उन्हें तत्कालीन

सामाजिक विचारधाराओं से ही मिलाकर देखते हैं। किन्तु यदि मूलरहस्य या अनिवार्यता के मानदण्ड को हम युग सीमा में रखकर नहीं देखते तो उनका कोई मूल्य नहीं है। स्वयं मेरे मित्र आलोचक यह समझते हैं कि मेरा दृष्टि-कोण उदार है। किन्तु उनका मतभेद यों प्रकट होता है कि वे सहज आत्म-चिन्तन को समाज से निरपेक्ष करके देखते हैं। प्राचीन व्यक्तिवादी विचार सरणियों को देशकाल का व्यतिक्रम करके देखते हैं और उनका तारतम्य बिठाने की चेष्टा नहीं करते। व्यक्तिपरक निर्लेपता पर वे अधिक बल देते हैं। व्यक्तिपरक निर्लेपता अपने आप में कभी पूर्ण नहीं होती और वह अपने त्याग के आवरण में सदैव समाजपक्ष की नकारात्मक स्वीकृत को अपने भीतर सन्नि-हित किये रहती है। सृष्टि के मूल रहस्य की व्याख्या विभिन्न आचार्य्यों ने की है और अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। हम उनमें से किसीको भी शाश्वत नहीं मान सकते क्योंकि अभी तक सृष्टि का मूल रहस्य कोई भी नहीं जान सका है। हम तो खैर आधुनिक समय में हैं। प्राचीनकाल में भी जो विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकारों से उस रहस्य को समझाने की चेष्टा की है, उनका वह वैविध्य समाज की परिवर्तनशील परिस्थिति से ही जन्म ले सका है। सन्तों, महात्माओं ने जो विविध व्याख्या करके जगत को समझाने की चेष्टा की है, उनका व्यक्तिपरक विचार उन्हीं तक सीमित रहा है, और सदैव ही उनके सामाजिक पक्ष ने अपना प्रभाव डाला है। और जब राजेन्द्रजी स्वयं स्वीकार करते हैं उन व्यक्तिमूलक विचार सरणियों के फल शोषण-प्रधान हुए तो उन्हें स्वीकार करके अच्छा कहनेकी आवश्यकता ही क्या है? वे व्यक्तिमूलक विचार जिन्होंने समाज को पहले की परिस्थिति से आगे बढ़ाया है, अवश्य स्तुत्य हैं। यह 'प्रगति तो सदैव 'तुलनात्मक' है, क्योंकि जब 'शाश्वत रूप से अगति' की कल्पना करली जाती है, तब प्रगति का प्रश्न ही कहाँ उठता है? वहाँ तो हम यह मान लेते हैं कि विकास की शक्ति समाप्त हो चुकी है।

पुराने ढङ्ग के लोग (ज़मीदार और पूँजीपति) जो मार्क्सवाद नहीं जानते वे वर्गसंघर्ष की दृष्टि से अब भी समाज व्यवस्था को न निर्मित करते हैं, न स्वीकृत ही। उनका चिन्तन भाग्यवादी है, वे तो इसे सनातन ही समझते हैं। हम इस परिस्थिति में इस समाज को शोषण-प्रधान कहें तो क्या वह एक

आरोपमात्र होगा ?

नहीं। समाज में लोग चाहे वर्गसंघर्ष से अवगत हों या उसे नहीं जानते हों, हम समाज के उत्पादन के साधन, वितरण के माध्यम और स्वरूप को देख कर, उस समाज के व्यक्तियों के विभिन्न नियमों, आचरणों की परीक्षा करके उस समाज में शोषण के स्वरूप को जान सकते हैं। आलोचक महोदय का कथन है कि जिस समाज में उसके लोग वर्गसंघर्ष की दृष्टि से उसे निर्मित और स्वीकृत नहीं करते, वहाँ युगचेतना की विकास सीमा के अनुसार आदर्श व्यवस्था के भी रूप में उसे स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु दुर्भाग्य से इतिहास ही उनके पक्ष में नहीं बोलता। मनुष्य ने जो निरन्तर समाज को सुखी बनाने की ओर पग उठाया है, वही भावना उनके विरुद्ध है। युगचेतना की विकास सीमा उसी व्यवस्था को तत्कालीन समय में आदर्श बनाती है, जो कि समाज को आगे ले जाती हैं; इतिहास का चक्र उल्टा नहीं घूमता। हमारा चिन्तन इसी को बार-बार कहता है कि उसने लौटकर जाने वाले गतिरोधक पन्थों को न कभी विजयी होने दिया, न श्रेष्ठ ही कहा।

आलोचक के अनुसार बिना ही प्रगति किये, वर्गसंघर्ष के अज्ञान से, युगसीमा की आदर्श व्यवस्था में शोषित-शोषक सम्बन्ध भी घृणा और विवशता के बदले औचित्य और सन्तोष के शान्तिमय वातावरण का पर्य्याय मान लिया जायेगा।

तब यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचक को वर्गसंघर्ष में घृणा की बू आती है और वह उस सन्तोष को उचित समझता है जो असाम्य पर पर्दा डालने का फरेबी काम करता है। मूलतः उसका दृष्टिकोण मानवतावाद के पुराने स्वरूप को लेकर चलता है। प्रथम तो वह वर्गसंघर्ष को हाल की उपज मानता है, दूसरे व्यक्ति के चिंतन को समाज से अलग करके देखता है, तीसरे व्यक्ति के त्यागपक्ष को समाज के शोषणपक्ष से ऊँचा समझता है, चौथे युग सीमा की आदर्श व्यवस्था को तत्कालीन परिस्थिति की अन्य विचारधाराओं से सापेक्षता में रखकर नहीं देखता और पाँचवें वह वर्गसंघर्ष से जन्म लेने वाले असन्तोष को उचित नहीं समझता। यहाँ उसका भाव कुछ उचित भी है, क्योंकि कुत्सित समाज शास्त्रियों ने इतिहास के न्याय को घृणा के रूप में

प्रस्तुत किया है। शोषित वर्ग यदि शोषक वर्ग के व्यक्ति से घृणा करे तब तो यह उचित नहीं है, क्योंकि उस शोषण व्यवस्था से घृणा करना उसका अधिकार है। यह सच है कि वर्ग के रूप में प्राचीन और मध्यकाल में शोषितवर्ग शोषक वर्ग के विरुद्ध नहीं था, किन्तु हमारे धार्मिक जीवन में कितनी बड़ी खाई खुदी हुई है जो वर्णाश्रम के संघर्ष को लेकर जोड़ी गई थी। उस समय वर्गों के प्रतीक वर्ण ही तो थे। मध्यकालीन जीवन में धार्मिक आन्दोलन अधिकांश राजनीतिक आन्दोलन ही थे।

और इसी से यह भी स्पष्ट होता है कि एक कालखण्ड में जो प्रगति होती है, वही भविष्य में, उसके लिये ही प्रतिक्रिया नहीं बन जाती, वह प्रतिक्रिया बनती है तब जब और आगे आने वाली प्रगति का पथ रोकने का प्रयत्न करती है। विचार, व्यवस्था और मनुष्य समान हैं। वे जन्म लेते हैं, अपना विकास करते हैं, सृजन करते हैं और अंत में गलित होकर नष्ट हो जाते हैं। एक ही बात हर एक युग में प्रगतिशील नहीं रहती। एक बात एक ही युग में प्रगतिशील रह सकती है। यह कोई विरोधात्मक तथ्य नहीं है। निरन्तर बदलते हुए जगत में एक ही बात हर एक युग का समाधान नहीं कर सकती। किन्तु जो बात एक युग विशेष में प्रगतिशील कहला सकती है, उस युग विशेष की परिस्थिति विशेष पर उसका मूल्यांकन हो जाने पर वह सदैव ही उस युग विशेष की प्रगतिशील बात मानी जायेगी। घटना अपने क्रम से या युग परिवर्तन से प्रगतिवाहिनी नहीं बन जाती, वह तो समाज और राजनीति से सापेक्ष रख कर देखने पर ही 'प्रगति' तत्त्व का पर्य्याय बन सकती है।

श्री राजेन्द्रप्रसादसिंह ने अपने विवेचन के परिणामस्वरूप स्वीकार किया है कि मैंने ही यह कहा है और उन्होंने मेरा एक उद्धरण भी दिया है जो इस प्रकार है : हमारा साहित्य प्रारंभ से ही जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित है। उसमें अपने-अपने युग के बन्धनों के अनुरूप शोषित वर्गों की हिमायत की गई है।'

परन्तु इसके आगे वे लिखते हैं : "फिर भी न जाने क्यों आत्मानुभूति के संबंध में वे (अर्थात् रांगेयराघव) लिखते हैं—'अभी तक जिसे आत्मानुभूति कहते रहे हैं वह व्यक्तिगत वस्तु है, और उच्च वर्गों ने उसकी आड़ लेकर जन-समाज

का शोषण किया है।' इस विचार में आत्मानुभूति की मूलगत दिव्यता और निरपेक्षिता का अनुपात स्वीकार नहीं किया गया।"

आलोचक महोदय का तर्क स्पष्ट ही यह मानता है कि आत्मानुभूति जड़ में दिव्यता लिये होती है और निरपेक्ष होती है। स्पष्ट ही यह व्यक्ति को समाज से बिल्कुल अलग करके देखने की प्रवृत्ति है। कार्य्यकारण से विचार के जन्म को न समझकर अन्तः चेतना और ऊर्ध्व चेतना को बीच में लाना तर्क संगत दिखाई नहीं देता। और निरपेक्ष तो कुछ होता ही नहीं। सभी कुछ सापेक्ष होता है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ आलोचक महोदय कहना कुछ और चाहते हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि वर्गसंघर्ष की जब व्यक्ति को जानकारी नहीं होती तब वह अपने जाने अच्छा ही करने की कोशिश करता है। यह बात दूसरी है कि उसके चिन्तन में शोषण को बल मिले। पर जब वह शोषक और शोषित के दृष्टिकोण से सोचता ही नहीं, तो फिर उस पर दोषारोपण कैसे किया जा सकता है। वह तो अपने युग की सीमाओं से बुरा नहीं करता और जब वर्ग-संघर्ष का ज्ञान ही नहीं है तब वर्गगत घृणा की बात ही क्यों लाई जाये? वर्ग-संघर्ष तो तब शुरू होता है जब वर्ग-संघर्ष का ज्ञान हो जाता है। उससे पहले तो समाज में व्यक्तियों की दिव्यता और सहज स्वानुभूति काम किया करती है।

यह है उनका चिन्तन जो अपने को वर्गसंघर्ष के विरोध में प्रकट करता है। जिस ढङ्ग से वे सोचते हैं, वह ढङ्ग बड़ा भोला और सरल दिखाई देता है। परंतु वस्तुतः वह वैसा है नहीं। व्यक्ति कितना भी 'अच्छा' करने का प्रयत्न करे, किन्तु उसका 'अच्छापन' व्यक्तिपरक परिणाम नहीं, समाजपरक परिणाम रखता है। चाहे वह किसी भी तरह से सोचे परंतु उसके शोषण को बल मिलने पर, उसके विचार शोषण के परोक्ष समर्थक ही माने जायँगे और भले ही व्यक्ति को हम न लें, परन्तु समाज में उस विचारधारा को तो हमें अपने विवेचन का विषय बनाना ही पड़ेगा। वर्गगत घृणा की बात वर्गसंघर्ष की जानकारी के बिना भी रहती है। भारत में सामन्तीय व्यवस्था में वर्णभेद वर्गभेद का ही प्रतीक है। हमारे देश की जातियाँ अपने-अपने अधिकारों और कर्तव्यों को लेकर सदियों से चली आती हैं। उच्च वर्णों की निम्न वर्णों के प्रति घृणा

किसी भी मार्क्सवादी के पहले से भारत में विद्यमान थी, और सन्तों ने जो निम्न वर्णों के पक्ष में आवाज़ उठाई थी, वह तत्कालीन युगसीमा में होने वाले वर्गसंघर्ष का ही पर्य्याय थी। उत्पादन के साधन समाज में रहन-सहन और आचार-व्यवहार पर गहरा प्रभाव डालते हैं। व्यक्तियों की दिव्यता, नैतिकता के दिव्यजाल और सहज स्वानुभूति जब तक व्यक्तिपरक रहती है, वह व्यर्थ है, पर जब समाज का प्रश्न आता है तब वह समाजपरक व्यक्ति-चेतना बनती है। हम पहले ही बता आये हैं, कि यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति वर्गचेतना से उठकर युगचेतना को पा ही न सके। जब वह उसे पा लेता है तो वह आगे का पथ दिखाता है, वही मेरे मित्र को दिव्य दिखाई देने लगता है। लेकिन व्यक्ति के विचारों की दिव्यता अन्ततोगत्वा समाज के उत्पादन वितरण के साधनों पर आश्रित रहती है, जैसे मानवता की दुहाई देकर भी सन्त लोग, अभूत दिव्य होने पर भी, सामन्तीय व्यवस्था के प्रतीक चातुर्वर्ण्य को तोड़ नहीं सके, और अँगरेजी शासनकाल में आने वाली रेल, तार, नल आदि ने जाति प्रथा पर प्रहार किया और उसकी जड़ों को नगरों में काफी ढीला कर दिया।

आगे श्री राजेन्द्रप्रसादसिंह लिखते हैं: इसी प्रकार ब्राह्मणत्व के प्रभाव और शास्त्र रचना की विवेचना करते हुए वे (अर्थात् रांगेयराघव) लिखते हैं 'इन तीन अवस्थाओं में (बर्बर, सामन्त और इस्लाम के युग) क्रम से शास्त्रों ने जो मर्य्यादा नियत की, वह उच्चवर्गीय लोगों और ब्राह्मणों के स्वार्थ की सिद्धि करती थी।' इस निष्कर्ष में जनता के द्वारा ब्राह्मणों के धार्मिक महत्त्व की स्वाभाविक स्वीकृत और शास्त्रीय नियमों के प्रति एक आत्मीयता के मूल में बसी हुई परम्परागत व्यापक श्रद्धा और हार्दिक सचाई का स्थान नहीं है। लेखक ने श्रद्धा और हार्दिक विश्वास की सहजता कहीं नहीं मानी है; पर ये तत्त्व व्यक्ति की स्वतन्त्र विशिष्ठता के द्वारा मनोगत मूल्यों की रचना में गहरा योग देते हैं।"

विद्वान आलोचक ने ब्राह्मणों के धार्मिक महत्व की बात उठाई है और कहा है कि उस महत्त्व के प्रति अन्य जातियों में स्वाभाविक स्वीकृति है और शास्त्रीय नियमों को जनता किसी बाहरी दबाव से नहीं, वरन् इसलिये मानती है कि उसकी आत्मीयता के मूल में परम्परा व्यापक श्रद्धा और हार्दिक सच्चाई

है। ये तत्त्व व्यक्ति की स्वतन्त्र विशिष्ठता के माध्यम से उसके मनोगत मूल्यों का निर्माण करने में बड़ी सहायता देते हैं।

ब्राह्मणवाद का प्रश्न मेरे लिये अनेक कारणों से विशेष महत्व रखता है। क्योंकि मैं इस विषय पर अन्यों से अलग बात कहता हूँ। यहाँ मैं विभिन्नमतों का परीक्षण आवश्यक समझता हूँ। यह परीक्षण व्यक्ति परक नहीं, वरन सैद्धान्तिक संघर्षपरक है और इसलिये हिन्दी साहित्य के लिये भी विशेष महत्त्व रखता है, न केवल भारतीय इतिहास के ही प्रति।

बहुधा मेरे विद्वान आलोचक कहते हैं कि मैं ब्राह्मण द्वेषी हूँ और वे इसके लिये मेरे 'राह के दीपक' नामक कविता संग्रह से निम्नलिखित उद्धरण देते हैं कि देखो रांगेयराघव दक्षिणात्म और द्राविड़ संस्कृति का पक्षपाती है और वह इसीलिये ब्राह्मणवाद और आर्य्य संस्कृति का विरोधी है—

आज मेरी धमनियों में
बज उठा है खौलता फिर उस द्रविड़ का तप्त लोहू—
भींग शोणित से लड़ा जो वर्णदम्भी, जातिदर्पी
गौर आर्य्यों से गरजकर,
क्योंकि बर्बर कर रहे थे आक्रमण,
घर द्वार उसका लूट।

बस यही इस द्रविड़ पक्षपात का मूल स्रोत है। परन्तु यह कविता मैंने जब लिखी थी और वही आज भी सत्य है, तब राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ उत्तर में 'आर्य्यों' को ही सुसंस्कृत कहकर साम्प्रदायिकता फैला रहा था। उस समय यह बताना अत्यन्त आवश्यक था, और आज भी है कि आर्य्य ही सुसंस्कृत नहीं थे, इस देश में 'वेदों' के निर्माताओं से पहले भी सुसभ्य लोग थे। आर्य्यों में रक्त गर्व, वर्ण गर्व था, यह कोई अस्वीकार कर सकता है? और दक्षिण में उस समय और अब भी द्रविड़ कजगम के लोग प्रचार कर रहे हैं कि ब्राह्मण आर्य्य हैं, अतः दक्षिण के लिये विदेशी हैं। मैं दक्षिण का ब्राह्मण (जन्म से) हूँ और मैंने कहा कि दक्षिण का ब्राह्मण आर्य्य नहीं है, उसकी धमनी में भी द्रविड़रक्त है।

मेरे आलोचक अपने पक्षपात को नहीं देखते जो मूलतः आर्य्यों को श्रेष्ठ

समझने के आधार पर है। उनमें ब्राह्मणवाद घुसा हुआ है तभी वे इतना ही कह कर चुप हो जाते हैं, आगे नहीं पढ़ते—तुरन्त अगली पंक्ति—

रक्त हो कोई,
अगर इन धमनियों में शक्ति विद्युत की भरी है।
ब्राह्मण के गर्व का गिरिदीर्घ भी हो जाय बस मैदान—
जिस पर दक्षिणापथ उत्तरापथ,
शील, समता, स्नेह के वे वणिक्
जो सस्ती करें क्रय और विक्रय—
चले 'औ' मिल जायें—

यह स्पष्ट है कि मैं 'रक्तवाद' का प्रचारक नहीं हूँ। ब्राह्मणों ने दक्षिण में घोर अत्याचार किये हैं, इसे भी तो छिपाया नहीं जा सकता। उन्हें तो बदलना ही होगा। इसे कहे बिना क्या हम सत्य कहते हैं।

तभी मैंने कहा है—

मानव !
धमनियों में अब प्रवाहित हो न केवल रक्त—
हो जीवन तरल की शक्ति का वह सिंधु मन्थन से उठा
उस मोहिनी के हाथ का अमृत भरा घट
जो कि केवल सत्य की संपत्ति
मानव मात्र के उत्कर्ष की अभया अमरता सिक्त
मृत्युञ्जय गिरा कल्लोल !

दक्षिण में ही आलवरों ने पहले वैष्णव समता का नाद उठाया था। दक्षिण में ही सित्तरों ने वर्णव्यवस्था का विरोध किया था। दक्षिण में तामिल साहित्य में प्रारम्भ में वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं मिलती। कालांतर में मिलती है। दक्षिण का पुरोहित वर्ग (आर्येतर) भी उन दक्षिण के आर्य्य ब्राह्मणों में घुलमिल गया था।

मैंने स्पष्ट कहा था—

ज्यों पुरातन तात कुल में जात यह रांगेयराघव
हलाहल से ब्राह्मणत्व विषाक्त को अब कुचलकर अब

खड़ा है इस विश्व जनता बीच निर्मल एक मानव
जाति, कुल, अज्ञान का हो कहीं कैसा भी न दानव—

क्या यह जनवाद के विरोध की भावना है ? क्या ब्राह्मणत्व को अब भी मानना होगा जिसने शताब्दियों से वर्णव्यवस्था को जीवित रखा है ? लोग इसलिये और भी भ्रम में पड़ते हैं कि वे मूलतः ब्राह्मणवाद को जानते नहीं।

वे आर्य्य और ब्राह्मण को एक समझते हैं। वे आर्य्य की वास्तविकता को नहीं सुनना चाहते। 'मुर्दों का टीला' उपन्यास में मैंने ऋग्वेद की ऋचाओं के आधार पर आर्य्यों का आक्रमण चित्रित किया था। वे ऋग्वेद को नहीं पढ़ना चाहते परन्तु आर्य्यों की वास्तविकता भी सुनना नहीं चाहते। क्रम विकास से अपने ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यासों और इतिहास तथा आलोचना के ग्रंथों में मैं भारतीय इतिहास की गहराईयों को अपने दृष्टिकोण से देखता आया हूँ। आश्चर्य यह है कि मेरी 'यशोधरा जीत गई' नामक औपन्यासिक जीवनी और 'हिंदी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका' को पढ़कर लोग मुझे क्षत्रिय विद्वेषी कहते है। सारांश यह है कि इस प्रकार के दोषारोपण सत्य के निकट नहीं ले जाते, उन से दूर अवश्य करते हैं। मुझे न ब्राह्मण से द्वेष है, न क्षत्रिय से। मैं इन सब भेदों को गतयुग की वस्तु मानता हूँ और जाति परकता को मनुष्य के विकास में बाधक मानता हूँ। यहां मैं संक्षेप में अपने चिंतन के उस भाग को लिखता हूँ जिसका जातिवाद से संबंध है—

१] जाति शब्द हिंदी में एक ही है, परन्तु अङ्गरेजी के तीन शब्दों का पर्याय बनकर प्रचलित है। Tribe, Caste, Race तीन है अतः मैं Tribe के लिये 'कबीला जाति,' caste के जिये 'वर्णजाति' तथा race के लिये 'जाति' शब्दों का प्रयोग करूँगा।

'ब्राह्मण' शब्द पहले आर्य्यों के पुरोहित वर्ग के लिये आया है। यह 'वर्णशुद्धि' और 'रक्तशुद्धि' को मानता था। प्रारम्भ में आर्यों ने भारत की कुछ जातियों को हरा कर दास बनाया। अधिक दासों की अवस्थिति में उन्हें शूद्र कहा गया और दासों की तुलना में वे स्वतंत्र हो गये। तब शूद्रों को भी चातुर्वर्ण्य में स्वीकार किया गया।

२] महाभारत युद्ध के बाद ब्राह्मणवर्ण की शक्ति का बहुत ह्रास हुआ। उस समय दास प्रथा टूट रही थी। यद्यपि ब्राह्मण चिल्लाता रहा कि 'कलि आ गया' 'कलि आ गया' परंतु अनजाने ही वह इतिहास में प्रगति का कार्य्य कर गया। उसने विभिन्न जातियों की अन्तर्भुक्ति को स्वीकार किया, कबीला जातियाँ भी अन्तर्भुक्त हो गईं और तब विभिन्न जातियों के विभिन्न पेशों के लोगों ने अपने अपने पेशे के अनुसार आर्य्य चातुर्वर्ण्य में वर्णाश्रम जातियों के रूप में प्रवेश किया। ब्राह्मण ने इस समय व्यापकता को स्थान दिया। हमें उसकी नीयत नहीं, कार्य्य देखना चाहिये। उसने गणों की ओट में रक्तशुद्धि रखने वाले अहंकारी क्षत्रियों को पराजित करने की चेष्टा की।'

३] बुद्ध ने समाज को मुक्ति करने की चेष्टा की, किंतु क्षत्रिय स्वार्थों ने उनके सिद्धान्तों को दबा लिया और ब्राह्मण वर्ग ने यवनों (ग्रीकों) के आक्रमण के समय देश की रक्षा करने की चेष्टा की।*

तो हम देखते हैं कि ब्राह्मणों में विभिन्न कबीला जातियों और जातियों के पुरोहित वर्गों की अन्तर्भुक्ति से उनके भी विश्वास, उनकी भी उपासना पद्धति सन्निहित हो गई हैं। आर्य्यों के ब्राह्मणवर्ण के देवताओं पर आर्य्येतरों के देवता छाये हुए हैं। अंगरेजी संविधान की भांति भारतीय ब्राह्मण का संविधान भी परिस्थितियों के अनुकूल बदलता रहा है। इसने ऋषभ और बुद्ध को भी अपने अवतारों में स्वीकृत कर लिया है।

अतः ब्राह्मण के धार्मिक महत्त्व की स्वीकृति उसके परिवर्त्तनशील धर्म के कारण रही है, जिस परिवर्त्तन की आड़ में वह अपनी सत्ता को बचाये हुए शासन करता चला आ रहा है। खेतिहर व्यवस्था के भाग्यवादी दर्शन ने जनता को उसके प्रति श्रद्धालु बनाया है और इसीलिये शहरों में ब्राह्मण का महत्त्व खण्डित हो रहा है जो गांवों में आज भी शहरों की तुलना में कहीं अधिक सशक्त है। शास्त्रीय नियम तो स्पष्ट ही ब्राह्मणों की शासन करते रहने की नीयत प्रगट करते हैं। जिसने भी धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया है वह सहज ही 'कलिवर्ज्य' के प्रकरणों को पढ़कर वर्ग चेतना को पहचान लेगा।

* विस्तार के लिये देखिये – 'अंधेरे के जुगनू' की भूमिका और 'हिंदी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्व पीठिका।'

जाट, मैना, गूजर आदि कबीला जातियों को कबीलों के ही रूप में स्वीकार करके ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता को काफी मजबूत बनाया।

श्रद्धा और हार्दिक विश्वास सदैव रहे हैं और आज भी हैं। आज के विषमशील समाज में जब हम निरंतर मनुष्यत्व के लिये लड़ रहे हैं, दानवी प्रवृत्तियों से संघर्ष कर रहे हैं, तब मैं यह कहते हुए कभी नहीं रुकूंगा कि आज ही इतिहास में पहली बार व्यापक रूप से एक विशाल पैमाने पर मनुष्य का समाज सन्नद्ध और सचेत रूप से अपनी जागरूक श्रद्धा और हार्दिक सचाई से उस हृदयहीन शोषण से संघर्ष कर रहा है, जो धन का रूप धारण करके समस्त मानवीय मूल्यों को नष्ट कर देना चाहता है! आज तक के इतिहास में मनुष्य पर ऐसा संकट कभी भी नहीं आया था। आज पहली बार वह अपनी ही बनाई हुई वस्तुओं से डरने लगा है। अहंकारी अर्थपिशाचों के हाथों में पड़े हुए मनुष्य के ज्ञान के साधन को आज मनुष्य के ही महासंहार के लिये उठाये जाने की धमकी दी जा रही है। इस समय क्या अर्थलोलुप हृदयहीन अत्याचारियों की श्रद्धा और हार्दिक सच्चाई को उन लोगों के ईमानदार श्रमिक जीवन की यातनाओं और संघर्षों के साथ रखा जा सकता है, जिनके जीवन का एकमात्र आधार ही उनकी मनुष्यता है, जिस पर हर प्रकार के आघात होने पर भी वे उसे किसी प्रकार बचाये, बढ़ते चले जा रहे हैं? यह सत्य है कि आज श्रद्धा और आस्था के आश्रय बदल रहे हैं परंतु वह पहले की तुलना में कहीं अधिक हैं, क्योंकि वे अल्प संतोष अभावों के अन्धकूप के परे हो गई हैं, और आलोक की ओर अग्रसर हो रही हैं।

श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह कहते हैं कि श्रद्धा और आस्था की स्वीकृति बुद्धि और व्यवस्था की दृष्टि से नहीं, भावना और चरित्र की दृष्टि से होती है। प्रगति की सूक्ष्मतामूलक दिशाओं का निर्देश वे इन्हीं के द्वारा मानते हैं और इन दोनों को 'तर्क विरचित नहीं, सहज हार्दिक तत्त्व' मानते हैं। वे 'मस्तिष्क को उस परिधि का बोधक मानते हैं 'जिसमें उचित-अनुचित और लाभ हानि की व्यवहारिक और तर्क बद्ध स्थिति रहती है' और हृदय उस घेरे की व्याप्ति का बोधक है, जिसमें मानवीय और व्यक्तिगत संस्कार के तत्त्व, अतीन्द्रिय अनुभूतियों की शक्ति और आत्मा की सहज द्रवण शीलता होती है।'

आलोचक महोदय बुद्धि और मनुष्य की अपनी ही बनाई व्यवस्था को उसकी भावना और चरित्र से अलग करके देखते हैं, जब कि भावना का और मनुष्य के चरित्र का एकमात्र मानदण्ड उसका समाज होता है। भावना की अनुभूति बुद्धि से परे नहीं होती, क्योंकि वह मूलतः प्रवृत्ति से संबद्ध होती है और प्रवृत्ति ही अपने विकसित रूप में बुद्धि बनाती है। तर्क करने वाली शक्ति ही मनुष्य की व्यापकशक्ति है। परन्तु जो तर्क अपने आधार को काटता है वहीं अपने दुराग्रह से द्वन्द्व खड़ा करता है और बुद्धि वहीं प्रवृत्ति से टकरा कर मनुष्य के विकास को रोकने लगती है। प्रगति की सूक्ष्मतामूलक दिशाओं का निर्देश, व्यक्तियों की भावना और चरित्र को समाज से निरपेक्ष करके देखना और उन्हीं को पाना, इतना असंगत है कि आलोचक महोदय स्वीकार करते हैं कि वह केवल ऐसी 'अनुभूति' का फल है जिसको तर्क से देखा ही नहीं जा सकता। मनुष्य का तर्क सीमित है यह सत्य है। परन्तु मनुष्य की भावना भी तर्क की ही भांति ससीम है। प्रकृति के नानाविध रूप व्यापार हैं। तर्क अभी सबकी व्याख्या नहीं कर सका है। इसका यही अर्थ है कि अभी हम उस सबको जान नहीं सके हैं। भावना मात्र से हम उसे कैसे जान सकते हैं।

हृदय और मस्तिष्क को अलग अलग काव्य शैली में ही कहा जा सकता है। मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियाँ है। भाव, अनुभूति, चिंतन, बुद्धि, सब उसीके विभिन्न रूप हैं। मानवीय और व्यक्तिगत संस्कार के तत्त्व का भाव से अधिक संबंध अवश्य है, परंतु अन्ततोगत्वा उसकी कसौटी बुद्धि ही है। यह बात तो इतनी पुरानी है कि भारतीय योगमार्ग ने 'चित्तवृत्ति के निरोध की स्वीकृति में पतञ्जलि द्वारा कहला कर बुद्धि को ही ऊँचा स्थान दिया है। अतीन्द्रिय अनुभूतियों की शक्ति का कितनी सीमा तक हमारे उपचेतन से संबंध है, वह अभी खोज ही का विषय है, उस पर हम गंभीरता से कोई भी निर्णय नहीं दे सकते।

यह सत्य है कि मनुष्य का मस्तिष्क यन्त्रमात्र नहीं है। यह भ्रम कि वह यन्त्र है, तभी जन्म लेता है जब व्यक्ति को समाज के विरोध में खड़ा हुआ देखने का पूर्वाग्रह पैदा हो जाता है।

कला और धर्म का विकास बताते हुए श्रीराजेन्द्र प्रसाद सिंह कहते हैं:

''मानव विकास के इतिहास में श्रद्धा और आत्मानुभूति पर आधारित कला

और धर्म के विकास का मार्क्सवादी अध्ययन करने वाले मानते हैं कि वर्ग स्वार्थ और वर्ग संघर्ष ही उसकी मूल प्रेरणा है; शोषण ही उसकी कारणभूत शक्ति सिद्ध है। रांगेयराघव भी लिखते हैं: मनुष्य का इतिहास प्रमाणित करता है, आज तक शोषण किसी न किसी रूप में जीवित रहा है, समाज की व्यवस्था बदली है, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध बदले हैं, किंतु पूँजीवाद तक शोषण जारी रहा है, उसके रूप सदैव ही बदलते रहे हैं।' 'शोषण किसी भी रूप में हो, प्रगतिशील साहित्य उसका प्रत्येक युग में विरोध करता है। आज ही नहीं, वह कालिदास के युग में भी यह देखता है कि उस समय कौन शोषक वर्ग का हिमायती था और कौन नहीं था।' 'जैसे जैसे सामंतीय समाज व्यवस्था विषमशील होती गई, वेदान्त का प्रचार उच्च वर्गों में अधिक बढ़ चला और उसने समाज को फिर भाग्यवाद आदि में जकड़ा और शोषण-पद्धति का न्याय देने का प्रयत्न किया। उस वेदांत का समाज-पक्ष सामंतवाद था। संसार भर में धर्म ने जन समाज को दबाये रखने का काम किया है।' इन धारणाओं से कला, धर्म और दर्शन से संबंध उनकी (रांगेयराघव की) विषमगत सदाशयता सन्देश जनक जान पड़ती है; किंतु श्रद्धा, आत्मानुभूति, और ज्ञान-सम्बन्धी दृष्टिकोण से मूलतः प्रेरित और नियन्त्रित होने के कारण उनके विकास का प्रच्छन्न अभिप्राय वर्गस्वार्थ को प्रश्रय देना नहीं माना जा सकता; आधुनिक अर्थशास्त्रीय दृष्टि से उस विकास का व्यवस्थात्मक फल भले ही वैसा मान लिया जाय। धर्म और कला के विकास में कारणभूत तत्त्व तो शुद्ध रूप से आत्मानुभूति, आत्मबोध और श्रद्धा रही है, उसका ही फल शोषण का प्रसार हो चला हो—ऐसा विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता, जब तक सिद्ध न हो जाये कि धर्म और कला से ही आर्थिक संबंधों का संगठन होता रहा है। धर्म शास्त्र की मान्यताओं ने जिस अनुपात में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सङ्गठन में भाग लिया है, उस अनुपात में उच्च शासकवर्गों का प्रभाव उन पर है; पर जिस अनुपात में आत्मचिंतन और जीवन दर्शन की उपलब्धियों को प्रसारित किया है, अनुपात में वे व्यवस्था-निरपेक्ष और स्वतंत्र हैं।"

इस विवेचन में निम्नलिखित बातें तो वे स्वयं स्वीकार करते हैं—

१] धर्म शास्त्रों ने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सङ्गठन में भाग लिया है।

२] उस अनुपात में उच्च वर्ग का उन पर प्रभाव है।

उन्हें संदेह इन बातों का है:—

१] श्रद्धा आदि ही धर्म की प्रेरक हैं उन्हें एक ही कसौटी पर कैसे कसा जाये ?

२] उसका समाज की व्यवस्था से क्या कुछ संबंध भी है ?

३] आत्मचिंतन और जीवित दर्शन की उपलब्धियों को कैसे इसी मान दण्ड से आँका जाय ?

इसको मैं स्पष्ट करदूँ—

१] मैं कह चुका हूँ कि प्रगतिशील चिंतन केवल आर्थिक और राजनीतिक जीवन नहीं है।

२] श्रद्धा आदि की बात व्यक्ति के समाज गत चेतना के प्रति जागरूक होने की बात है।

३] वर्ग संघर्ष वर्गों के बीच खाई नहीं खींच देता।

४] वर्ग विभिन्न प्रकार के जन्तुओं का अलगाव नहीं पैदा करता।

५] मनुष्य अर्थात् व्यक्ति अपने सामाजिक संबंधों से अधिक निर्णीत होता है।

६] व्यक्ति जब उत्पादन के साधन के पास पहुँचता है, जहाँ उसका वर्ग स्वार्थ आता है, वहीं उसमें भेद का जन्म होता है।

७] व्यक्ति उसके अलावा सहज समान प्रवृत्तियों का ही होता है।

८] व्यक्ति की इतनी सुरक्षा के बाद भी क्या वह यान्त्रिक हो सकता है। परंतु श्रद्धा आदि के विषय में बात करते समय हमें यह नहीं भूलना है कि अन्ततोगत्वा मनुष्य समाज गत प्राणी है और वह निरपेक्ष नहीं है।

६] धर्म और कला का संबंध तो प्रगट ही है। इतिहास का कोई भी विद्यार्थी बता सकता है कि धर्म और कला भी आर्थिक कारणों से सम्बद्ध रहे हैं और यह इतना स्पष्ट सत्य है कि अब इस पर विवाद ही व्यर्थ है।

१०] अन्त में प्रश्न धर्म की दर्शन-उपलब्धि पर आकर ठहर जाता है।

धर्म की व्याख्या करने पर प्रतीत होता है कि धर्म के निम्नलिखित अङ्ग हैं—

अ] दर्शन पक्ष (सृष्टि के रहस्य की खोज)

आ] भाषा और संस्कृति का आवरण (रीति रिवाज)

इ] नैतिकता का उपदेश

ई] उपासना पद्धति

अब इन पर विचार करना आवश्यक है।

अ] प्रत्येक धर्म के साथ एक दर्शन है। दर्शन सृष्टि के रहस्य की खोज है। और मनुष्य के दैनिक और व्यवहारिक जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। प्रत्येक युग में विभिन्न दर्शनों ने जन्म लिये हैं, जो प्रगट करते हैं कि कोई एक ही दर्शन मनुष्य की जिज्ञासा की तृप्ति नहीं कर सका है। विभिन्न दर्शनों के जन्म का कारण ही यह है कि प्रत्येक दर्शन किसी विशेष परिस्थिति में जन्म लेसका है और आगे आने वाले युग में वह नयी समस्यायों का हल प्रस्तुत नहीं कर सका है। भारतीय चिंतन ने इसलिये दर्शन के वैविध्य को अस्वीकृत नहीं किया और माना है कि धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है, और कोई नहीं जानता कि धर्म का 'तत्त्व' क्या है। भारतीय चिंतन ने क्रमशः सभी दर्शनों को मान्यता दी है। उसने परिवर्त्तन शील जगत में मनुष्य के नये नये चिंतन स्वीकार किये हैं।

प्रत्येक युग में वर्गों के सम्बन्ध अथवा वाह्य सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्त्तन आता रहा है। नये नये विचारकों ने उसका हल खोजने का यत्न किया है। इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि यह विचारक षडयन्त्रकारी थे। वे अपने युग के ईमानदार व्यक्ति थे, जो सचमुच संसार को सुखी बनाना चाहते थे। परंतु उनकी अपनी ही युग-सीमा थी। और क्योंकि वे युग सापेक्ष थे उन्होंने युग निरपेक्ष हो सकने की शक्ति नहीं पाई।

विद्वान लोग दर्शन को देशकाल से अलग करके देखते हैं और भारतीय चिंतन की व्यापकता की जड़ काटते हैं। कोई धर्मगुरु पागल नहीं रहा है, वह जागरूक, सचेत, सकर्मक और चैतन्य रहा है, जबकि आज के दर्शन के प्रोफेसर अधिकाँश कर भूले भूले से रहते हैं। इसका कारण यही रहा है कि अध्यापक उन गुरुओं के दर्शन को देशकाल से निरपेक्ष बनाकर देखते हैं और

यों उनका वास्तविक जीवन से सम्बन्ध नहीं रहता। वे भारतीय चिंतन की उस व्यापकता को अस्वीकृत करते हैं जो कहती है कि चिंतन के विभिन्न पहलू समयानुसार आते हैं। यह लोग किसी एक पुराने चिंतन को शाश्वत कहकर मानने के लिये बाध्य करते हैं।

दर्शन में सृष्टि के रहस्यों की खोज है। परन्तु क्या हम अब तक उसे जान सके है। केवल दंभी और क्षुद्र अहंकारी ही ऐसा कह सकेगा। वैसे कोई अपना मन समझाले तो कोई हानि नहीं। परन्तु यदि वह दर्शन समाज पर प्रभाव डालता है तो क्या उसका असर नहीं होगा? धर्मगुरू तो अपने युग में होकर चला जाता है, उसके उपदेशों से बाद में लोग फायदा उठाते हैं, यह क्या झूँठ है?

धर्म तो व्यक्ति का आचार व्यवहार कहलाता था, और वह परिवर्त्तनशील था—ऐसा महाभारत कार कहता है। आज धर्म को Religion के पर्य्याय स्वरूप प्रयुक्त किया जाता है। और इसका समाज से सम्बन्ध रहा है।

सृष्टि के रहस्य की खोज यह क्षुद्र व्यक्तिचिंतन कैसे कर सकता है? इस ब्रह्माण्ड में से ⅓ भाग भी अभी दूरबीन से नहीं देखा गया, करोड़ों प्रकाश-वर्षों (एक प्रकाशवर्ष में आलोक ५८ खरब, ६५ अरब, ६६ करोड़, ६० लाखमील चलता है, करोड़ों वर्ष का अर्थ हुआ इसी संख्या में करोड़ों का गुणा करना और फिर अन्दाज लगाना कि कितने मील निकलेंगे) की बात तो समझना भी कठिन है और धरती जैसे छोटे से नगण्य उपग्रह में रहकर हम यह कैसे मान लें कि सृष्टि का रहस्य क्या है? हम तो अभी पथ पर हैं। क्या दर्शन हमें इतना अहंकारी होने की विवशता दे सकेगा? इसीलिये वह अनुभूति जिसे ज्ञान का अहंकार है, स्वल्प है, सीमित है, और मूलतः वही यान्त्रिक भी है। अपने अज्ञान और अपनी सीमा की स्वीकृति ईमानदारी है और प्रेरणाप्रद है।

आ] प्रत्येक धर्म की संगति एक भाषा के माध्यम से प्रगट हुई है, और जाति विशेष की संस्कृति ने इसके साथ अपना सामंजस्य उपस्थित किया है। इनका तो प्रगट ही सामाजिक और राजनीतिक पक्ष रहा है।

इ] नैतिकता का उपदेश प्रत्येक धर्म और संप्रदाय में रहा है। आचार विचार का औचित्य और अनौचित्य ही नैतिकता है। नैतिकता के ये मानदण्ड

सदैव ही समाजगत रहे हैं और व्यक्ति के चरित्र की परख भी सापेक्ष ही रही है।

ई] उपासना पद्धति प्रत्येक धर्म के साथ ही है। यद्यपि इसका सामाजिक पक्ष है, परन्तु यह नितांत व्यक्ति की वस्तु है। और धर्म में यही श्रद्धा अनुभूति, और ईमानदारी को धारण करती है, और यदि इसका अर्थ व्यवस्था से, समाज व्यवस्था से सम्बन्ध अलग कर दिया जाय तो कभी हानिकारक सिद्ध नहीं हो सकती।

यह व्यक्ति का आत्म दर्शन है। उसके विषय में निश्चित दृष्टिकोण दे देने से व्यक्ति का विकास रुक जायेगा। हम समाज में कर्त्तव्य और अधिकारों में एक दूसरे के सुख के लिये बँधते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि हम अपने व्यक्तित्व को ही समाप्त कर देते हैं। व्यक्ति के स्वातंत्र्य की जहाँ महत्ता है, वहाँ उसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। स्वयं भारतीय चिंतन इसी बात को कहता है। श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह व्यक्ति की स्वतन्त्रता की बात चलाते हैं, पर स्वयं ही उस स्वतंत्रता को काटते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व का मूल्यांकन समाज में होता है, व्यक्ति में अपने आप समाप्त नहीं हो जाता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति और कुछ सोचे ही नहीं।

वे कहते हैं: "व्यक्ति के आत्म दर्शन के सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण न देकर उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं करने वाली प्रगतिशीलता, मात्र समाज बद्ध मानी जायगी। तब वह भी एकाँगी और व्यक्ति के 'स्व' को उपेक्षित रखने के कारण एक पूर्ण जीवन दर्शन नहीं कही जा सकती। तब एक विरोधाभास भी स्पष्ट है कि एक स्थान पर लेखक (रांगेयराघव का) मत उद्धृत करना पड़ा है: 'प्रगतिशील विचारक उन सब विचार धाराओं को गलत मानता है; जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती है।' फिर व्यक्ति को एकांगी होने की स्वतंत्रता कहाँ रही? किंतु व्यक्ति के लिये किसी निश्चित जीवन-दर्शन का संकेत भी कहाँ हुआ?"

आलोचक महोदय चाहते हैं कि—

१] व्यक्ति के आत्म दर्शन के संबंध में कोई निश्चित धारणा दे दी जाये।

२] उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन हो।
३] प्रगतिशीलता केवल समाज बद्ध न हो।
४] व्यक्ति का 'स्व' उपेक्षित न हो।
५] पूर्ण जीवन दर्शन हो।
६] व्यक्ति को एकांगी होने की स्वतंत्रता हो।

ध्यान रहे ऊपर आलोचक बन्धु ने समाज व्यवस्था के भीतर व्यक्ति को यान्त्रिक कहा था और वहाँ व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की ही आवाज उठाई थी। अब इनको देखा जाये :

१] व्यक्ति का आत्मदर्शन किस तरह निश्चित किया जा सकता है? व्यक्ति की तो इसमें स्वतंत्रता छिन जायेगी। तो क्या हम व्यक्ति की निरंकुशता की बात कहते हैं!

२] नहीं। व्यक्तित्व का मूल्यांकन समाजगत होता है, व्यक्तित्व में पूर्ण नहीं हो जाता।

३] इसीलिये प्रगतिशीलता समाज को देखती है, और व्यक्ति को समाज का अङ्ग मानती है।

४] परन्तु समाज का अङ्ग मानने पर भी वह व्यक्ति के 'स्व' को यान्त्रिक नहीं बनाना चाहती।

५] समाज और व्यक्ति के अन्योन्याश्रय में पूर्ण जीवन दर्शन प्राप्त होता है। जीवन दर्शन का हमारा मापदण्ड शाश्वत नहीं, सापेक्ष होना चाहिये।

६] और इसीलिये व्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ उसका समाज विरोधी बनना नहीं, उसके सामरस्य में जीवित रहना ही है, क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ अराजकता नहीं है।

आगे आलोचक मित्र ने साहित्य के मूलाधार—जीवन विकास—पर प्रश्न उठाया है और उसको सविस्तार देखना आवश्यक है।

प्रगतिशील चिंतन स्पष्ट ही मार्क्सवाद का प्रभाव है। मार्क्सवादी अपने को वैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषण करने वाले विचारक कहते हैं। किन्तु मार्क्स की एक व्याख्या नहीं है। पक्ष विपक्ष यों हैं:

१] कुछ लोग मार्क्स, एंगिल्स को ही अक्षरशः मानते हैं और समझते हैं कि इनके ज्ञान के बाद अब संसार में और कुछ बाकी ही नहीं है।

२] इनके विरोधी इनकी कुछ गलतियों को पकड़ पाते हैं तो एकदम से यह कह बैठते हैं कि मार्क्सवाद असंगत है और व्यर्थ है। मानव चरित्र दुरूह है अतः उसकी व्याख्या ही नहीं हो सकती।

३] कुछ लोग लेनिनवादी हैं और उसने जिस प्रकार मार्क्सीय सिद्धांतों को रूस पर लागू किया है, उसी को शाश्वत मानते हैं।

४] स्तालिनवादी, राष्ट्रीयता के साथ उपस्थित हैं और वे अपने को मार्क्स का उचित अनुयायी बताते हैं।

५] स्तालिनवाद के विरोधी तो बहुत हैं। सोशलिस्ट उनमें प्रथम हैं। रायवादी जो 'नवीन मानवतावाद' के विचार से अनुप्राणित थे, वे दूसरे प्रतिद्वन्द्वी थे।

६] सर्वोदय चिंतन भारतीय संत परम्परा का आधुनिक दृष्टिकोण है। वह यह मानता है कि वर्गगत मानव व्यक्ति की विशेष श्रद्धा और स्वानुभूति रखता है और वही मुख्य होता है। वह व्यक्ति की नैतिकता पर बल देता है। और शोषक वर्ग को वर्ग रूप में न सोचकर शोषकों को केवल व्यक्ति रूप में सोचता है और उनसे हृदय परिवर्त्तन की आशा करता है।

७] इसके अतिरिक्त 'कला कला के लिये' सिद्धांत वाले 'देशकाल निरपेक्ष' करके प्राचीन सिद्धांतों को उपस्थित करते हैं और परिवर्त्तन के सापेक्ष महत्त्व में नये चिंतन की लघुता दिखाकर स्वानुभूतिपरक आदर्श को शाश्वत करके प्रस्तुत करते हैं।

८] ऊर्ध्वचेतन और नये विकास के पर्य्यायस्वरूप, भौतिकवाद को गिरा कर, अरविंदवादी व्यक्ति को समाज से अलग करके दिखाया करते हैं।

९] कोइस्लर जैसे विद्वान भौतिक और चेतन का समन्वय करते हैं और समाज और व्यक्ति का अन्योन्याश्रय दिखाते हैं और नये विकास को भी पुराने ही दृष्टिकोण से देखते हैं।

१०] उपचेतनवादी मानवगति को दुरूह और कुत्सित यौनवृत्तियों का विकास मानते हैं।

११] फ्रायड के परवर्त्ती विचारक एडलर और जुंग आदि अन्तः प्रकृति की स्वीकृति देकर व्यक्ति को उपचेतन की यान्त्रिकता से मुक्त करना चाहते हैं।

१२] साम्यवाद को स्वीकार करते हुए भी कुछ लोग रूसी पद्धति का अधिनायकतन्त्र पसंद नहीं करते, जहाँ वे व्यक्ति को कोई स्वतंत्रता नहीं बताते।

१३] और कुछ लोग इस समस्त समाज को माया मानते हैं, भगवान की मर्जी मानते हैं और विकास पर चिंतन न करके, उस मूल शक्ति से ही तादात्म्य बनाये रखने की बात करते हैं, जिसमें अन्ततोगत्वा यह सब स्थित है।

१४] इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के चिंतन हैं, जिनका गिनाना भी कठिन है क्योंकि वे असंख्य हैं।

यहाँ हमें इन तथ्यों की परीक्षा करनी चाहिये।

१] मार्क्स और एंगिल्स देवता नहीं, मनुष्य थे। वे जनता के शोषित वर्गों में नहीं जन्मे थे। उन्होंने बौद्धिक रूप से ही शोषित वर्गों की अवस्था के प्रति चेतना जगाई थी और अपनी परिस्थिति में वे सक्रिय रूप से उस संघर्ष में भी भाग लेते थे, जो तत्कालीन राजनीति तथा समाज में होते थे। मार्क्स और एंगिल्स ही उस यांत्रिकता के आरोप का खंडन करते हैं, जो उनके वर्ग विश्लेषण पर लगाया जाता है, कि वर्गवाद का ज्ञान मनुष्य को घृणा की ओर खींचता है, क्योंकि यदि घृणा होती तो भिन्न वर्ग के व्यक्ति, भिन्न वर्ग के शोषितों से सहानुभूति नहीं जतलाते। मार्क्स और एंगिल्स व्यापक साम्राज्यवाद (*Imp*-erialism) के पहले उपस्थित थे और उन्होंने जो भविष्यवाणियाँ की थीं, वह उन्हें अपने युग तक के इतिहास के प्रतिफलन के स्वरूप दिखाई दी थीं। मार्क्स ने कहा था कि संसार में द्वन्द्वात्मक विकास होता है और उसने यह हेगल को पढ़कर सीखा था, जिसके प्रति उसकी अपूर्व श्रद्धा थी। हेगेल के अ-भौतिकवादी (absolute) पूर्ण का त्याग करके उसने फ्यूअरबाख के भौतिक वाद को लिया था और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त बनाया था। डार-विन के विकासवाद के सिद्धान्त ने उसके चिंतन को अत्यधिक बल दिया था। उन्नीसवीं सदी के यूरोप में जहाँ एक ओर अध्यात्मवादी अपने चिंतन को देश-काल से निरपेक्ष करके देखता था, भौतिकवादी जीवन से प्रभावित विचारक

अपने सीमित ज्ञान से धीरे-धीरे जड़वादी भौतिकवाद का प्रश्रय ग्रहण कर रहा था। यदि हम मार्क्स के दर्शन के प्रति कहे हुए उद्‌गारों का सारांश निकालें तो वह इस प्रकार होंगे—

अ] दार्शनिकों ने इस सृष्टि के रहस्य को समझाने की चेष्टा की हैं और विभिन्न प्रकारों से व्याख्या प्रस्तुत की है।

आ] इनमें से कोई भी ऐसी व्याख्या नहीं है जिसे शाश्वत सत्य समझ लिया जाये।

इ] अतः सृष्टि के रहस्य की खोज व्यक्ति के सीमित चिंतन से प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि व्यक्ति का चिंतन देशकाल से निरपेक्ष नहीं होता।

ई] कल्पना और अनुभूति से मन का समाधान करने वाली विचार सरणि प्रथम तो सदैव ही समाजगत सत्य से सापेक्ष होती हैं, दूसरे उसके बाद भी उसी व्यक्तिपरक ढङ्ग से नयी बात कह सकने का अवकाश बच रहता हैं। हम भले ही अपने को समझालें परन्तु सत्य सापेक्ष हैं और भी बड़ा हैं, हम उसे मनबहलाव के तौर पर कल्पना से नहीं सुलझा सकते।

उ] कोई ऐसा वर्णन नहीं है जिसने सचमुच सारी समस्या का हल कर दिया हो।

इतना कहकर मार्क्स ने उस व्याख्या को प्रगट किया था जिसके द्वारा उसने मनुष्य के ज्ञान को सदैव स्वतन्त्र रखने की कल्पना की थी कि वह कल्पना से नहीं, वैज्ञानिक विकास के माध्यम से धीरे-धीरे क्रम विकास से सृष्टि के रहस्यों को देख सकेगा।

इतिहास ने मार्क्स को विकास की धारणा दी थी। उसनें देखा था कि दास-प्रथा के बाद सामन्तीय समाज आया, उसके बाद पूँजीवाद का विकास हुआ अतः उसने आगे चलकर शासक होने वाले मजदूरवर्ग के लिये भविष्य-वाणी की थी कि वही स्वामी होकर रहेगा। उसने जीवन के दैनिक कार्य्य-कलापों की व्याख्या ही नहीं की, उन्हें बदलने की भी योजना प्रस्तुत की थी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त की स्थापना करके उसने उसे राजनीति, समाज और जीवन के विभिन्न पहलुओं पर लागू किया था और कहा था कि, क्रम विकास को होने में बहुत समय लगता है, हमें क्रान्ति करके शीघ्र ही

संगठित योजना से ऐसा समाज बना लेना चाहिये जिसमें शोषण नहीं रहे, और हमें अर्थात् मानव जाति को प्रकृति से संघर्ष करने और अपने को सुन्दरतर बनाने का पूर्ण अवकाश प्राप्त हो। उसने कहा कि मनुष्य निरन्तर प्रकृति का अङ्ग होते हुए भी, उसे बदलने की सामर्थ्य न रखने पर भी, उसका अपने लाभ के लिये प्रयोग करता रहा है और इसलिये आपसी द्वन्द्व छोड़कर हमें ज्ञान के क्षेत्र में उतरना चाहिये और अपने द्वन्द्व को प्रकृति से जोड़ देना चाहिये, जो निरन्तर अब भी चल रहा है।

इसके बाद 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus Value) का सिद्धान्त, शोषण की मंज़िलें इत्यादि पर उसने विशद् विवेचन किया। उसने यह कहीं नहीं लिखा कि वह शाश्वत सत्य लिख रहा है। उसने यह नहीं कहा कि ज्ञान की लक्ष्मणरेखा वही खींच रहा है।

उसके रूढ़िवादी अनुयायियों ने अवश्य उसको ज्यों का त्यों पकड़ा। मार्क्स भी देश काल से निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष था। अतः उसकी भी युग सीमाएँ थीं इस तथ्य को कभी नहीं भूलना चाहिये। जिस प्रकार यूरोपीय चिन्तन की शृङ्खला में मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी में एक कड़ी बनकर आया था उसी प्रकार उसके आगे भी कड़ियाँ जुड़नी अनिवार्य हैं। मार्क्स ने अपने युग तक की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं को अपने भीतर आत्मसात कर लिया था और इसीलिये हमें यह याद रखना चाहिये कि जब हम विकास करते हैं तब उसकी सर्वश्रेष्ठ परंपरा को ही हम आगे ले जाते हैं, हमें मार्क्स के शब्दों को सृष्टि के ज्ञान का अंतिम निर्घोष नहीं समझना चाहिये। हमें यूरोपीय इतिहास और संस्कृति की उन सीमाओं को याद रखना चाहिये जिनका मार्क्स पर प्रभाव था। मार्क्स ने यांत्रिक चिन्तन की बात नहीं कही थी। उसने एशिया की भिन्न परिस्थिति का आभास पाया था और उसे प्रगट भी किया था, यद्यपि वह एशिया के बारे में नहीं के बराबर जानता था, क्योंकि उसके पास इतने साधन ही नहीं थे। उसने काव्य के 'स्थायी महत्त्व' पर भी प्रकाश डाला था, किन्तु वह उसे पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर सका था, न समझा सका था, क्योंकि उसके सामने जो यूरोपीय काव्यशास्त्र था वह अपनी ही सीमाएँ लिये हुए था। उन्नीसवीं शती के यूरोप के विज्ञान वाद की सीमा भी उस पर अपना प्रभाव रखती थी।

किन्तु मार्क्स ने जिन आधारों को हमारे सामने प्रस्तुत किया है उनका दार्शनिक मूल्य स्थायी है (सापेक्ष रूप से) और वह मूल्य तब ही पूर्ण हो सकेगा जब हम उसके उस समाज में पहुंचेंगे जहाँ ज्ञान ही मनुष्य की क्रिया का अधिक समय ले सकेगा।

२] मार्क्स के इस संक्षिप्त परिचय के उपरान्त हमें उसको ग़लत कहने वालों के विचारों को देखना चाहिए, क्योंकि वैज्ञानिक चिंतन पक्ष और प्रति-पक्ष देखने ही पर उपस्थित हो सकता है।

अ] कम्यूनिज्म की आधारभूत दुर्बलता१ यह मानी जाती है कि वह इतिहास के मूल में केवल आर्थिक मान्यताओं को ही सर्वस्व समझता है और जीवन की अन्य मान्यताओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है।

वस्तुतः यह असत्य है क्योंकि मार्क्स का विचार ऐसा नहीं था। आर्थिक मूल्य को उसने अधिकतर इसीलिये प्रतिपादित किया था कि उस समय आर्थिक आधार को स्वीकार ही नहीं किया जाता था। एँगिल्स ने परवर्त्ती मार्क्स के अनुयायियों के सामने यही स्पष्ट किया था कि मार्क्स ने आर्थिक मूल्यों पर जो ज़ोर दिया है, वह तत्कालीन विरोधों के कारण ही किया है केवल आर्थिक मूल्य ही सब कुछ नहीं होते। मार्क्स जीवन को सांगोपांग रूप से देखने के पक्ष में था। परन्तु वह आर्थिक आधार को बिल्कुल अलग करके देखने को इति-हास के साथ औचित्य नहीं समझता था, और वह इसमें नितांत ही ठीक था।

आ] वैयक्तिक षडयन्त्र, यौन-कलह, शक्ति की भूख, कुचली हुई महत्त्वाकांक्षा, अहंभावना, धार्मिक उत्साह, सुधार के प्रति आग्रह, दलबन्दी इत्यादि समय आने पर प्रबल होती हैं। मार्क्स ने इन पर ध्यान नहीं दिया था।

वस्तुतः यह भी ठीक नहीं है। मार्क्स ने समाजगत व्यक्ति का अध्ययन करके वही कहा था जो पुराने भारतीय आचार्यों ने कहा था। जो बातें ऊपर गिनाई गई हैं वे असामाजिक हैं और पुराने योगपरक चिन्तन के अनुसार स्वयं

---

१. कम्यूनिज़्म की सैद्धान्तिक असंगतियाँ—रामानन्दनप्रसादसिंह एम. ए. नया समाज वर्ष ७ : खण्ड १. अङ्क २. पूर्णाङ्क ७४ पृ० ११४ से। इस लेख का ही हम यहाँ परीक्षण करेंगे।

व्यक्ति के ही लिये हानिकारक बताई गई हैं। समाज में ऐसे समाज विमुख तत्त्व होते अवश्य हैं जो दूसरों की स्वतन्त्रता को नष्ट करके अपनी बलवती स्पृहा को दूसरों पर लादने की चेष्टा करते हैं, परन्तु यह काम हानिकारक हैं और किसी भी अवस्था में इनका प्रतिकार होना चाहिये। इतिहास बताता है कि जिसे अब तक मनुष्य ने सत् कहा है अर्थात् जन कल्याण कहा है, उसके लिये महापुरुष इसी प्रकार के प्रतिनिधियों से लड़ते रहे हैं। मार्क्स ने कहा था कि बहुतांश में असम अधिकार वितरण, सम्पति के असम वितरण आदि से यह बुराइयाँ जन्म लेती हैं। यही भारतीय आचार्य कहते रहे हैं। उन्होंने तभी संसार को त्याज्य और माया कहा है। माया से ही उत्पन्न होने वाले यह सारे दोष माने गये हैं। भारतीय आचार्य्यों ने 'माया' के त्याग में व्यक्तिपरक समाधान खोजकर असम समाज को यों ही छोड़ देने की राय दी थी और मनुष्य की वस्तु उत्पादन शक्ति के महत्व पर अधिक बल नहीं दिया था क्योंकि तब तक के उत्पादन में इतनी शक्ति नहीं थी। मार्क्स ने माया के भोग में उस पर शासन करने की बात उठाई थी, और इसलिये उसने व्यक्ति को समाजगत-प्राणी के रूप में उसके 'स्व' और 'पर' का सामञ्जस्य किया था, और 'धन' के कारण विरक्ति नहीं, 'धन' पर मनुष्य की विजय की चाहना की थी। और बताया था कि मनुष्य संसार में कितनी महान वस्तुएँ बना रहा है, जिनके विकास से वह कितना अधिक समृद्ध हो सकेगा और कितना सुन्दर बन कर सृष्टि के रहस्यों को समझ सकेगा।

इ] मार्क्स ने महत्त्वपूर्ण क्रान्तियों में महान व्यक्तियों के योगदान को भुला दिया था। बहुत सी परिस्थितियों में व्यक्तिविशेष ही क्रान्ति को सफल करता है। इस प्रकार की इन महान क्रान्तियों या महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उलट फेर के मूल में उतने ही कारण कार्य्य करते हैं, जितनी विभिन्न प्रवृत्तियाँ मानवमन के निगूढ़ रहस्यात्मक मन में कार्य्य करती हैं।

इस तथ्य को भी हम उचित नहीं समझते।

प्लाखानोव ने व्यक्ति का समाज से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध विस्तार से समझाया है। त्रात्स्की ने व्यक्ति को इसी समाज सम्बद्ध रूप में देखा था। मार्क्स ने वर्ग सम्बन्धों में रहने वाले व्यक्ति के चारों ओर कोई वर्गीय दीवारें

नहीं बनाईं। उसने यही माना था कि व्यक्ति व्यक्ति तो होता ही है, परन्तु वह वर्ग और समाज से सापेक्ष होता है। रही महान व्यक्ति की बात। हम पहले कह ही आये हैं, कि व्यक्ति युग चेतना को धारण कर आगे का पथ बता सकता है। परन्तु कोई भी महान व्यक्ति युग निरपेक्ष नहीं होता। किसी भी व्यक्ति के चरित्रमात्र को देखना तथा उसके इतस्ततःकी परिस्थिति को बिल्कुल ही छोड़ देना ठीक चिन्तन नहीं कहला सकता। व्यक्ति समाज में परिवर्त्तन करता अवश्य है, परन्तु वह पहले समाज का अङ्ग है। कोई भी व्यक्तित्व इतना महान नहीं होता कि वह पूर्णतः युग निरपेक्ष हो। व्यक्ति में कितनी ही परंपराएँ आत्मसात होकर अपना विकास करती हैं। उत्पादन और विनिमय के साधन समाज की व्यवस्था पर प्रभाव डालते हैं। समाज व्यक्ति पर प्रभाव डालता है। किन्तु समाज और व्यक्ति केवल उत्पादन के साधन और विनिमय में ही सीमित नहीं हो जाते। जीवन के आर्थिक ही नहीं अन्य पक्ष भी होते हैं। व्यक्ति के निर्माण में समाज में से ही वे अन्यपक्ष भी अपना प्रभाव डालते हैं अतः व्यक्ति और समाज को अलग अलग करके नहीं देखा जा सकता। मार्क्स यह नहीं कहता कि केवल आर्थिक आधार ही सब कुछ करते हैं। धर्म, युद्ध-कौशल, तथा अन्य भी ऐसे अनेक तथ्य हैं जिनका प्रभाव पड़ता है किन्तु उनके कारण समाज के मूलाधार परिवर्तित नहीं होते; जितना परिवर्त्तन आर्थिक आधारों का परिवर्त्तन लाता है, उतना अन्य कारणों से नहीं होता। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है।

ई] विद्वान लेखक ने कहा है कि मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में असंगति है। वे कहते हैं : उसने (मार्क्स ने) अपने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की व्याख्या में बताया था कि दास प्रथा ने सामन्तवाद के लिये पथ प्रशस्त किया और सामन्तवाद ने पूँजीवाद के लिये। उसी प्रकार पूँजीवाद भी साम्यवाद के लिये पथ प्रशस्त करेगा। लेकिन मार्क्स का यह सिद्धान्न कि विरोधी प्रवृत्तियों के आधार पर ही समाज का विकास होता है, इस पथ प्रशस्तीकरण को निरर्थक और अनर्गल सिद्ध करता है; क्योंकि अगर हम मान लेते हैं कि साम्यवाद पूँजीवाद का विरोधी स्वरूप है और वह पूँजीवाद के भग्नावशेष पर अपनी

मीनारें खड़ी करेगा, तब भी यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि वह सामन्तवाद जो पूँजीवाद का विरोधी नहीं है, किस प्रकार पूँजीवाद के लिये पथ प्रशस्त करने में सिद्ध हुआ ? उसी भाँति दास-प्रथा का समर्थक समाज भी तो सामन्त-वाद का विरोधी नहीं, वरन् उसका पूरक ही कहा जा सकता है ।

मार्क्स का विवेचन यूरोप के इतिहास पर आधारित था । भारत पर यदि हम इसी परिस्थिति को लागू करते हैं तो वह ग़लत बैठता है । भारत में वर्गसंघर्ष वर्णसंघर्ष के रूप में रहा, और खेतिहार प्रणाली के साथ साथ उसमें जातिवाद की समस्या बनी रही और यहाँ वर्गों के संघर्ष में क्रान्ति नहीं, क्रमशः होने वाला विकास मिलता है । किंतु मार्क्स ने यह भी कहा था कि क्रान्ति तो सचेत होकर की जाती है, वैसे धीरे धीरे विकास ही होता है । किंतु वर्गसंघर्ष की अवस्थिति तो फिर भी मिलती है, चाहे वह स्फटिक की भांति यूरोपीय ढाँचे पर नहीं हुई हो । एंगिल्स को इस तथ्य का ज्ञान था । उसने यहाँ परिवार, संपत्ति और राजा के विकास पर मॉर्गन पर टिप्पणी प्रस्तुत की है, वहाँ एक ही जाति नहीं अनेक जातियों के भेदों को भी परखा है और तब वह मूल पर पहुंचा है । मूलतः वह भारत में भी सत्य है । वर्ग-संघर्ष में यह आवश्यक नहीं है कि एक वर्ग की शक्ति दूसरे वर्ग का सर्वनाश करके ही उदय हो, वह समझौता करके भी उठ सकती है । जैसे भारत में ब्रिटिश पूँजीवाद ने भारतीय सामंतवाद से समझौता कर लिया था, या जैसे इंगलेंड में पूँजीवाद से पुराने सामंतवाद ने समन्वय कर लिया था । परंतु इसके बावजूद शक्ति का केन्द्र सामंतवाद के बाद पूँजीवाद के ही हाथों में दिखाई देता है । मार्क्स की व्याख्या का यह सत्य ही काफ़ी है । और यह सत्य कल्पनात्मक नहीं निष्कर्षात्मक है । यहाँ केवल इतना ध्यान में रखना और आवश्यक है कि वर्ग संबंधों का शक्ति-परिवर्त्तन परस्पर पूरक नहीं स्थानान्तरकारी होती है । आने वाली व्यवस्था पुरानी व्यवस्था की तुलना में समाज की शक्ति को बढ़ाती ही रही है ।

उ] द्वन्द्वात्मक विकास में अन्तहीन चक्र की कल्पना अनुचित्त है । मार्क्स ने शोषणहीन साम्यवाद की कल्पना करके छोड़ दिया था । बर्ट्रेण्ड रसल जब उसके आगे की पूछते है तब वह यह मूल्य पाते हैं कि उसके बाद मनुष्य

और प्रकृति का द्वन्द्व चलेगा। द्वन्द्वरत रहना ही जीवन का चिन्ह है। मनुष्य प्रारंभ से ही प्रकृति से द्वन्द्वरत रहा है और आज भी है, और वह सदैव ही द्वन्द्वरत रहेगा। वर्गहीन समाज में भी द्वन्द्व की आवश्यकता तभी अनुभव की जाती है, जब यह भुला दिया जाता है कि साम्यवाद की स्थापना के बाद मनुष्य अज्ञान, रोगों से लड़ना बंद करके निश्चेष्ट हो जायेगा। मार्क्स यह कहता है कि मनुष्य मनुष्य से अकारण अहंकार से नहीं लड़ता, संपत्ति और भौतिक साधनों की प्राप्ति, या समाज में स्वीकृत अधिकार की प्रशंसा प्राप्त करने के लिये युद्ध करता है। जब यह परस्पर का युद्ध बंद हो जायेगा तो अभी तक जो उसका प्रकृति से गौण युद्ध हो रहा है, वह बढ़ेगा। प्रकृति से युद्ध का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य तब अप्राकृतिक जीवन व्यतीत करेगा। वह तो अंततोगत्वा प्रकृति का अंग है। वह अपने मस्तिष्क की शक्तियों का विकास करेगा, जिसका अभी उसे पारस्परिक युद्धों के कारण सुयोग प्राप्त नहीं हो सका है। और मार्क्स ने स्वयं प्रत्येक द्वन्द्व के पक्षों के भीतर भी आंतरिक विरोध को स्वीकार किया है।

वर्गहीन समाज के बाद द्वन्द्वात्मकता का चक्र प्रकृति के विध्वंसकारी रूप के विरुद्ध चलेगा, मनुष्य ज्ञान की खोज करेगा और मनुष्यों का पारस्परिक सौहार्द्र परिवार की सी शक्ति का संचय करेगा। एक सुखी संसार की कल्पना मार्क्स से पहले भी कितने ही लोग कर चुके हैं। मार्क्स ने केवल समाज की व्याख्या करके कुछ निष्कर्ष निकाले थे, जो देश काल की विभिन्न परिस्थितियों के बावजूद मोटे तौर पर ठीक ही हैं।

[ऊ] कम्युनिज़्म की शीघ्र स्थापना के लिये मार्क्स ने सशस्त्र क्रांति को आवश्यक बतलाया था। उसने यह निष्कर्ष इस आधार पर निकाला था कि सशक्त वर्ग की रक्षा 'राज्य' करता है और सशस्त्र रूप से करता है, बल्कि वह 'राज्य' युग विशेष में सशक्त वर्ग के स्वार्थ की रक्षा करता है। यह तो ऐसा सत्य है कि इससे कोई भी आँखें नहीं मूँद सकता। दैनंदिन जीवन का प्रत्येक तथ्य इसे स्पष्ट कर देगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि 'राज्य' अन्य वर्गों के कार्यकलापों से कभी प्रभावित नहीं होता। अपने वर्ग की रक्षा के लिये 'राज्य' अन्य वर्गों से यथाशक्ति संतुलन स्थापित करता चलता है।

जब संतुलन से काम नहीं चलता और शोषितवर्ग को दबा सकने के नैतिक आवरण अशक्त प्रमाणित होते हैं तब 'राज्य' वर्ग स्वार्थों की निरंकुश रक्षा के लिये 'फ़ासिस्त' बन जाता है। भारतीय कम्युनिस्त पार्टी की द्वितीय कांग्रेस के बाद रणदिवेकाल में…कम्युनिस्तों ने अपने संकीर्णतावादी दृष्टिकोण से नेहरू सरकार को फ़ासिस्त सरकार कहा था, जो कि अनैतिहासिक झूँठ और अनर्गलता थी और इसीलिये उसे किसी ने स्वीकार भी नहीं किया। किन्तु युद्ध की पद्धति जनता को दबाकर नहीं रख सकती।

बर्ट्रेण्डरसल का भय आज सभी जानते हैं। वे कहते हैं कि जब विज्ञान के विकास के साथ हम इतने बढ़ रहे हैं तब यह विज्ञान तो कुछ ही लोगों के हाथ की वस्तु है। वह कुछ लोग रूस और अमरीका में अधिनायक तंत्रों के हाथों में हैं। कल को वे स्वयं एक वर्ग बन कर अत्याचार कर सकते हैं। भय आधुनिक परिस्थिति में उत्पन्न हुआ है और सामाजिक व्यवस्था तथा परिस्थिति का प्रभाव नहीं देखता। क्या बर्ट्रेण्डरसल का तात्पर्य्य यह है कि विज्ञान ने जिन अच्छी चीजों को बनाया है उन्हें नष्ट कर दिया जाय और फिर हम पुराने साधनों पर लौट जायें? यह होना तो असम्भव है। मशीनों के विरोधी भी मशीनों का खूब प्रयोग करते देखे जाते हैं। वे भी नहीं समझते कि वे क्या कहते और क्या करते हैं।

उनका एक कहना है कि पहले मनुष्य अपने उत्पादन के साधन के ऊपर था। आज उत्पादन का साधन उसके ऊपर है। ठीक है, इसे कौन मना करता है। सामंतकाल तक उत्पादन के साधन अल्प थे, और मनुष्यों में परस्पर अधिक सम्बन्ध था। पूँजीवाद के अर्थ पिशाची युग में धन ने मनुष्य को ग्रस लिया है और वह उसका दम घोट रहा है। पर यहाँ यह याद रखना चाहिये कि पूँजीवाद का विकास सामन्तवाद से हुआ है, साम्यवाद से नहीं। साम्यवाद तो पूँजीवाद को पराजित करके फिर से मनुष्यत्व का विकास करना चाहता है।

किसी भी उत्पादन प्रणाली में जनता की जागरूक चेतना सत्ता के नियंत्रण की शक्ति रखती है। अतः भविष्य में वैज्ञानिकों के शासन की कल्पना भर करना उचित नहीं है। हम विज्ञान पर आगे फिर विचार करेंगे।

ए] क्रान्ति के बाद यह आवश्यक नहीं है कि पार्टीविशेष अधिनायकतंत्र

के नाम पर निरंकुश नहीं हो उठेगी। उसका ऐसा होना भी स्वाभाविक है। परन्तु यह अधिनायकतन्त्र अधिक दिन ठहर नहीं सकता।

इस विषय में रूस पर आगे विवेचन किया जायेगा।

ऐ] मार्क्स की भविष्यवाणियाँ निस्सन्देह असत्य हो गई हैं। इसका कारण जहाँ एक ओर मार्क्स की युग सीमा थी, दूसरी ओर वह किन्हीं देशों की केवल आर्थिक परिस्थिति को देखकर रह गया था और उसने अपने पक्ष के वर्ग की ही ओर से सोचा था, व्यापक रूप से वह प्रतिपक्षी वर्गों की शक्ति का मूल्यांकन नहीं कर सका था।

तभी उसने इङ्गलैंड और जर्मनी जैसे औद्योगिक देशों के भीतर पहले कम्यूनिज़्म की कल्पना की थी, जब कि वह पहले खेतिहर प्रणाली प्रधान रूस और चीन जैसे देशों में आया।

मार्क्स की भविष्यवाणियों का असफल होना मार्क्स के मूल सिद्धान्त को नहीं झुँठाता। वह केवल आर्थिक व्यवस्था पर अत्यधिक दृष्टिपात की पद्धति को झुँठाता है। कम्युनिज़्म का इतिहास बताता है कि वह उन्हीं देशों में फैला है जहाँ मानवतावादी चिन्तन की परम्परा बहुत दृढ़ हो जाती है या जहाँ पुराने मूल्याङ्कन इतने उखड़ जाते हैं कि समाजगत विषमता का कोई हल प्रस्तुत नहीं कर पाते। मानवतावादी चिन्तन जहाँ एक ओर सांस्कृतिक परम्परा में निहित होता है, दूसरी ओर वह जनता की जागरूकता का भी परिचय देता है। मानवतावादी चिंतन चीन में अधिक था। रूस दूसरे तरह के देशों में था जहाँ पुराने मूल्यांकन पूरी तरह उखड़ चुके थे। इनके अतिरिक्त देश की सरकार की तत्कालीन परिस्थिति इत्यादि अनेक कारण क्रान्ति का नियमन करते हैं।

मज़दूरवर्ग का विषमता में रहने ही से यह आवश्यक नहीं है कि मजदूर वर्ग चेतना से अवगत हो सके। फिर, अब पूँजीवाद या शोषित वर्ग किसी देशमात्र में ही नहीं है, अब पूंजीवाद विश्व पूंजीवाद और शोषित वर्ग विश्व शोषित वर्ग से परस्पर सहायता पाते हैं। अर्थात् उनका संगठन बनता है अथवा वर्ग विशेषों की शक्ति आज राष्ट्रों में ही समाप्त नहीं हो जाती, सापेक्ष होती है।

मार्क्स ने जिस रूप में मजदूरवर्ग की उन्नति में अन्य वर्गों पर ध्यान नहीं दिया था, वही उसकी बात को झूंठा कर गई। उसने मध्यम वर्ग और कृषक वर्ग का अध्ययन नहीं किया। बल्कि मध्यमवर्ग तो उसके समय में इतना विकसित भी नहीं हो सका था।

मार्क्स को अक्षरशः मानना कोई विद्वत्ता नहीं है। युग बदल रहा है; बदलता रहेगा। बदलती परिस्थिति में नया विचार भी आवश्यक है। मूलतः मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आज भी ठीक है।

मार्क्स का मूल सामाजिक ध्येय था एक वर्गहीन समाज का निर्माण करना जिसका कार्य्य जनकल्याण था।

यह स्पष्ट हो चुका है कि इस ध्येय को विभिन्न मंजिलों से भी प्राप्त किया जा सकता है और देश विशेष और कालविशेष की परिस्थिति तथा जनता की चेतना और प्रतिपक्षीवर्ग की शक्ति इत्यादि सब ही इस प्राप्ति पर प्रभाव डालते हैं।

मैं अपने मित्र श्री रामानन्दन प्रसादसिंह के इस तथ्य से सहमत हूं कि हमें नयी समस्याओं को देखना चाहिये और मार्क्स के सिद्धान्तों को संशोधित रूप में देखना चाहिये। संशोधित का अर्थ यह नहीं कि हमें वर्ग हीन समाज नहीं बनाना चाहिए, या यह कि वर्ग संघर्ष नहीं होता, या यह कि उत्पादन के साधन मूल प्रभाव नहीं डालते, या यह कि विकास द्वन्द्वात्मक नहीं होता, वरन् यह कि वर्गहीन समाज बनाने का तरीका (Pattern) एक ही नहीं है, वर्ग संघर्ष ही सब कुछ नहीं होता, उत्पादन के अतिरिक्त समाज पर अन्य भी तथ्य प्रभाव डालते हैं, और विकास द्वन्द्वात्मक होने पर भी उस तरह से स्फटिक की तरह स्वच्छ रूपेन कटा हुआ नहीं होता जिस प्रकार की मार्क्स ने कल्पना की थी। मार्क्स ने यूरोपीय इतिहास के निष्कर्ष निकाले थे, हमें प्रत्येक देश-काल की विभिन्न परिस्थितियों को देखना चाहिए।

३] लेनिन ने मार्क्सवाद को युगानुकूल परिस्थिति के अनुसार रूस की तत्कालीन अवस्थिति पर लागू किया और वह क्रान्ति कराने में सफल हुआ, किन्तु वह व्यापक दृष्टिकोण का व्यक्ति था और उसने साहित्य में भी अच्छी चिंतन प्रणाली का प्रारम्भ किया था, जिसमें संकीर्णता नहीं पाई जाती।

लेनिन ने साम्राज्यवाद के नये रूप को पहचाना जिसका विकास मार्क्स के समय तक नहीं हुआ था।

४] स्तालिनयुग का प्रारम्भ त्रात्स्की और स्तालिन के संघर्ष के साथ प्रारम्भ हुआ। त्रात्स्की लेनिन के समय में कम्यूनिस्तपार्टी का एक महत्वपूर्ण सदस्य था और लालसेना का सङ्गठन करने में उसका प्रमुख हाथ था। किन्तु उसने विश्वक्रांति का समय से पहले स्वप्न देखा और जर्मनी से ऐसी संधि करने का षडयन्त्र किया जिसने सोवियत भूमि को ही दास बनवा दिया होता। स्तालिन ने राष्ट्रीय साम्यवाद का प्रारम्भ किया। उसका तर्क था कि त्रात्स्की के अनुसार रूसी सेनाओं को विदेशों में क्रान्ति कराने को नहीं जाना चाहिये, बल्कि क्रांति को स्वयं देश विशेष की जागरूक जनता द्वारा स्थापित किया जाना चाहिये।

और यह नितान्त उचित था क्योंकि जनता के जागरूक होने के पहले देशविशेष में क्रान्ति सही अर्थों में नहीं हो सकती और रूसी लाल सेना यदि विदेशों में जाती तो वह साम्राज्यवादी सेना की ही संज्ञा प्राप्त करती।

किन्तु स्तालिन का काम इतने ही में समाप्त नहीं होगया। उसने सोवियत भूमि को समृद्ध, सशक्त और महान बनाया और फासिस्त जर्मनों को हराकर उसने विश्व में से बर्बरता का नाश किया।

५] परन्तु कुछ कमियाँ उसके समय में रह गईं—

अ] त्रात्स्की का नाम ही रूस से उड़ा दिया गया। होना यह चाहिये था कि जब तक त्रात्स्की साथ था तब तक के उसके वर्णन रखे जाते और उसके कुत्सित समाज शास्त्रीय हो जाने पर उसका उसी रूप में वर्णन होना चाहिये था।

आ] स्तालिन ने स्वयं सर्वपल्ली राधाकृष्णन् से स्वीकार किया कि उसके देश में नागरिक स्वतन्त्राओं का अभाव उसके देश की सांस्कृतिक और राजनीतिक परम्पराओं के कारण था।

सोशलिस्ट तथा रायवादी 'व्यक्ति की परम्परा' के अभाव पर बहुत प्रकाश डालते हैं और उस पार्टी निरंकुशता को स्पष्ट करते है।

उनकी बात में भी तथ्य है, क्योंकि वहाँ लेखकों को पार्टी नियमित करती

थी और साहित्य में इसी से वहाँ क्रान्ति के पहले की सी शक्ति नहीं है। किंतु इसका कारण मार्क्सवाद का अभाव नहीं है। रूस की विशेष परिस्थिति ही इसके लिये जिम्मेदार हैं, क्यों कि रूस क्रान्ति से पहले प्रायः बर्बर देश था, चीन में वही बात लागू नहीं हो सकी, क्योंकि वह सभ्य देश था। यूरोप के अन्य देशों में भी उसका प्रभाव नहीं पड़ा (जैसे इंगलैंड; इटली, जर्मनी आदि)।

इसका यह अर्थ नहीं कि मैं रूस को महान देश नहीं मानता। रूस ने ही स्तालिन ग्राड के युद्ध में अभूत पूर्व वीरता दिखाई थी। जनशक्तियों का वह गढ़ है। रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी ही ने रूस जैसे पिछड़े हुए देश को जाग्रत किया था।

रूस में स्तालिन के नेतृत्व का इतना अधिनायकत्व रूस की पिछड़ी हुई हालत के कारण ही था। भविष्य में रूस सुधरेगा और यह कमियाँ भी उससे दूर हो जायेंगी, क्योंकि जनता की जाग्रति बहुत बड़ी शक्ति होती है। रूस की रूढ़िवादिता का एक कारण यह भी है कि उसे पूंजीवादी संसार में अपनी रक्षा भी करनी पड़ी थी। पूंजीवादी संसार किसी भी तरह उसे नष्ट कर देना चाहता था।

इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि रूस इसी व्यवस्था द्वारा संसार का एक महान देश बन सका है।

आश्चर्य्य तो यह है कि जहाँ हिंसा में विश्वास रखने वाले साम्राज्यवादी देश रूस में नागरिक स्वातन्त्र्य के अभाव का ही रोना रोते हैं, उसको आक्रमणकारी सिद्ध करने में लगे रहते हैं, वहाँ अहिंसावादी गाँधीवादी—पं० सुन्दर लाल और जे. सी. कुमारप्पा, आदि ही 'हिंसावादी' रूस की शान्ति प्रियता का परिचय दिया करते हैं।

साराँश यह है कि मार्क्सवाद का अर्थ यह नहीं है कि हम रूस की परिस्थिति को भारत पर ज्यों का त्यों लागू करें।

जहाँ तक नागरिक स्वतन्त्रता के अभाव की बात है पूँजीवादी अमरीकी साम्राज्यवादी देश किसी भी प्रकार रूस से कम नहीं है। अमरीका में भी

व्यक्ति के विचार स्वातन्त्र्य को वहीं गति मिलती है जब वह व्यक्ति को सामाजिकता से दूर ले जाता है। अमरीकी साहित्य की विकृति और पतन इसी का परिचय हैं।

अधिनायकतंत्र का जो स्वरूप रूस में है वह विकास के क्रम में है और भविष्य उसे निश्चय ही बदलेगा, क्योंकि इतिहास आगे आकर लौटता नहीं।

भारत का विकास उस ढङ्ग पर नहीं हो सकता क्योंकि यह एक प्राचीन और सुसंस्कृत देश है जिसकी मानवतावादी परम्परा बहुत गहरी है।

स्व० मानवेन्द्रनाथ राय ने रूस के अधिनायकतंत्रीय पार्टी शासन को त्याज्य बताकर नवीनमानवतावाद की कल्पना की थी, किंतु वह विचार अपने सामाजिक वस्तु सत्य को छोड़ उठा था और उसने शोषण की क्रिया को ज्यों का त्यों छोड़ दिया था।

सारांश में हम कह सकते हैं कि हमें वस्तु स्थिति को उसके सापेक्ष रूप में देखने की ही चेष्टा करनी चाहिये। शेष प्रश्नों का उत्तर आगे यथाविषय प्राप्त होगा।

अन्त में मैं यह कहना चाहता हूँ कि साहित्य भावों के माध्यम से समाज की परिस्थिति को प्रतिबिंबित करता है। साहित्य राजनीति के वस्तुसत्य को मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से व्यक्ति और व्यक्तियों के सुखदुख, उनके जीवन के ताने बाने में पिरो कर प्रस्तुत करता है। वह जीवन के यथार्थ को लेकर काव्य को भाव के माध्यम से शक्ति देता है और जनकल्याण की ओर प्रेरित करके व्यक्ति का उत्तरदायित्व बढ़ाते हुए उसे उदात्त बनाकर व्यापकतम बनाता है और उसके बुद्धिपक्ष को और भी सचेत और जागरूक बनाता है। साहित्य राजनीति में ही समाप्त नहीं हो जाता, राजनीति अवश्य साहित्य का एक अङ्ग है। प्रगति यही कहती है कि यथार्थ वस्तु का सापेक्ष सत्य प्रतिबिंबित करता है और वह यथार्थ समाज और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध है, उसके संपूर्ण जीवन का संबंध है, उत्पादन के साधन से लेकर वस्तु के वितरण तक की प्रक्रिया से उद्भूत कार्य्यकारण भी उसके यथार्थ के मूलाधार हैं

साहित्य केवल इतना ही नहीं है। वह व्यक्ति के ज्ञान को बढ़ाने वाला

है, वह उसे प्रकृति के क्रोड़ में खिलाकर भी उसे उसका स्वामी बनने की प्रेरणा देता है।

साहित्य केवल सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निर्मित ही नहीं होता, वह आगे की पीढ़ी की परिस्थितियों का निर्माण करता है क्योंकि वह परम्परा का सृजन करने की शक्ति रखता है। वह केवल परिणाम नहीं, वह कारण भी है। किंतु वह केवल कारण ही नहीं, वह परिणाम भी है। इसे समझने में उसे ही कष्ट हो सकता है जो मनुष्य के जीवन की अविछिन्न धारा को न देखकर उसे समाज की सत्ता से अलग करके, सापेक्ष सत्य के स्थान पर निरपेक्ष सत्य देखने का प्रयत्न करता है। समाज और इतिहास व्यक्तियों और उनके भावों द्वारा ही निर्मित होते हैं। यह भाव यद्यपि भौतिक जगत के बिंब होते हैं, परन्तु जब वे बिम्ब गुणात्मक परिवर्त्तन द्वारा वस्तु से भाव का रूप ग्रहण कर लेते हैं, तब उनमें भी शक्ति होती है। जिस प्रकार जल से बिजली बनती है, वह बिजली जल से निकल कर भी अपनी अलग ही शक्ति रखती है, उसी प्रकार वस्तु जगत और भाव का सम्बन्ध समझना चाहिये।

भाव के मूल में वस्तु जगत को देखना, वर्गसंघर्ष से साहित्य का सम्बन्ध जोड़ना ही साहित्य के मूल में नहीं हैं। केवल इन पर जोर देते रहना तब तक ही ठीक है, जबतक कि इस बुनियादी सत्य को स्वीकार नहीं कर लिया जाता। किंतु जब यह तय मान लिया जाता है, जो कि एक सत्य होने के कारण निर्विवाद है, तब साहित्य की गहराई में समाज के सत्य को परखने की आवश्यकता उठ खड़ी होती है।

भाव से इतिहास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। कभी कभी भौतिक परिस्थिति बदल जाने पर भी भाव परम्परा में जीवित रह कर, विश्वास बनकर अपना प्रभाव डालता जाता है, और वह प्रगति को रोकने की चेष्टा किया करता है। वैसा ही भाव हमारे देश में अछूतों को नीच मानने की क्रिया को आगे चलाता है। हम देख चुके हैं पहले युगों में वस्तु जगत की आवश्यकता के कारण वह भाव समाज में जीवित रह सका। व्यक्तियों ने अपने स्वार्थ से परे उठकर जनकल्याण के लिये अपनी स्वेच्छा का प्रयोग कर उसका विरोध भी किया, किंतु वे वस्तु जगत की विवशताओं को न मिटा सके। अब वस्तु

जगत की परिस्थिति भी बदल गई है, किंतु भाव अब विश्वास बनकर पीछे धिसटता हुआ खींचने की चेष्टा कर रहा है।

साहित्य का वर्गीकरण इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि अमुक युग का साहित्य बर्बरदास प्रथा के युग में था तो वह बर्बरदास युग का साहित्य है, अमुक सामंतकाल में था तो वह सामंतीय है, अमुक पूँजीवादी युग में था, तो वह पूँजीवादी है। इस प्रकार का विभाजन कुत्सित समाज शास्त्री ही कर सकता है। हमें तो लेखक की सहानुभूति से भी मतलब नहीं है। भले ही वह उच्च वर्ग या शोषक वर्ग की ओर हो, लेकिन यदि उसका साहित्य समाज के यथार्थ को बिंबित करता हो, उसके लेखन से उसका अपना वर्गस्वार्थ खण्डित हो जाता हो, प्रत्यक्ष नहीं तो अपरोक्ष रूप से वह अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित नहीं कर पाता हो, तो वह साहित्य निस्संदेह प्रगति का परिचायक है।

साहित्य में केवल सामाजिक स्थिति की वाह्य विचार धाराओं को देखने से काम नहीं चलता, वहाँ तो मनुष्य के चिंतन और भावभूमि की उन सम्पूर्ण गहराइयों को देखने की आवश्यकता है जिनसे वह मनुष्य को चित्रित करता है। साहित्य को इरादतन किसी आवश्यक घटना को लेकर लिखने वाले लोग खानापूरी ही कर पाते हैं, वे भावजगत को छू भी नहीं पाते।

किंतु वे जो समाज के यथार्थ को कुंठा कर लिखते हैं वे चाहे यथार्थ के नाम पर कितनी भी कुत्सित नग्नता क्यों न प्रसारित करें वे न तो यथार्थ को उपस्थित करते हैं, न प्रगति ही उनके साहित्य में परिलक्षित होती है।

साहित्य व्यक्ति वैचित्र्य का अखाड़ा नहीं है, वह तो व्यक्ति के उदात्ती करण की साधना है। यह साधना व्यक्ति को खण्ड रूप से नहीं देखती, उसे समाज के समस्त तारतम्यों में रखकर देखती है। महाकवि कालिदास के रघु वंशम् और कुमारसंभवम् में हमें ऐसे ही वीर नायक मिलते हैं जो अपने आप को संसार के लिये न्यौछावर करते हैं। यह सत्य है कि रघु दिग्विजय करता हैं और आज वह विजय ठीक नहीं है, किंतु वह कालिदास के युग का बंधन था। कालिदास ने उस पर इतना बल नहीं दिया, जितना राम द्वारा रावण के बध को उदात्त बनाया है, जितना गाय रूपी पृथ्वी की रक्षा करने के लिये उद्यत प्राणों की बलि देने को तत्पर राजा दिलीप को बनाया है। उसने अग्नि

वर्ण का अखण्ड विलास दिखाकर बताया है कि उचित ही उसे क्षय हुआ और वह जनता की उपेक्षा करने वाला राजा नष्ट हो गया। कालिदास का कार्त्तिकेय भी ऐसा ही भव्य जनरक्षक है। उसकी पार्वती तो सार्वभौम कल्याणी गरिमा बनकर अपने रूप से नहीं, अपने प्रेम से अपनी विजय प्राप्त करती है।

महान कलाकार की दृष्टि बहुत गहरी होती है। प्राचीन काल में जब कि समाज शास्त्री समाज की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाये थे, तब भी महान कलाकारों की दृष्टि ने उलझनों में छिपी गहराइयों को पार करके मनुष्य का यह सत्य पहँचाना था कि मनुष्य की उदात्तभावना मनुष्य का ही स्वार्थ है, जो कि समाज से तद्‌गत होने पर जनकल्याण बन जाता है। महान कलाकार जीवन को देखता है और उसका व्यक्तित्व उसके प्रति जागरूक होता है। समाज शास्त्र की ढेरों पुस्तकें पढ़कर भी कोई अच्छा साहित्य सर्जन नहीं कर सकता। जीवन की खान में से ही साहित्य का सोना निकलता है। कलाकार की युग सीमाएँ होती हैं, किंतु जीवन के यथार्थ की सीमा नहीं होती, वह सार्वभौम सार्वकालिक होता है। वह यथार्थ ही मनुष्य के अन्तर्जगत की भावभूमि के माध्यम से ही हृदयहारी बनता है और अपना प्रभाव डाल सकने में समर्थ होता है।

इस यथार्थ के कारण ही मार्स के विवेचन से पुराने साहित्य में भी हमें प्रगति मिलती है। उस प्रगति के फलस्वरूप ही एक दिन मार्क्स का भी मस्तिष्क बन सका था। जो मार्क्स के शब्दों को अपने दांतों पर सोने की तरह मँढ़वाकर दांत दिखाते हैं वे नहीं जानते कि वे शब्द मिट्टी में अधिक शोभा देते हैं, सोना बनकर नहीं। कलाकार समाजशास्त्री हो सकता है क्योंकि समाज शास्त्र साहित्य का एक अङ्ग है। समाज शास्त्री चाहे कि वह समाज शास्त्र के ज्ञान के कारण ही कलाकार बन जाये यह असम्भव है। इसका ज्वलंत प्रमाण यही है कि मार्क्स, एँगिल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ जैसे समाजशास्त्री कोई भी कलाकार नहीं बन सके लेकिन गोर्की बन गया। कलाकार की दृष्टि होने के कारण शरद और प्रेमचन्द ने जिस यथार्थ और प्रगति की देन दी वह गांधी और नेहरू नहीं दे सके

———

: ३ :

यथार्थ की यह भूमि देखने पर ज्ञात हुआ कि हमारा काव्य उससे निरंतर प्रभावित होता रहा और वह आज भी उसी प्रकार हो रहा है। किंतु भारतीय मस्तिष्क में कुछ प्रश्न उठते हैं।

१] यदि व्यक्ति सचमुच समाज की व्यवस्था में इतना बद्ध है तो उसकी स्वेच्छा क्या है ?

२] साहित्य यदि समाज की व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिंब है तो उसमें हृदय को हरने वाली क्या वस्तु है ?

३] सत् क्या है और उसका विकास किस प्रकार होता है जो मनुष्य इतना गौरवान्वित करने का प्रयत्न करता है।

४] प्रगति क्या वाह्य परिस्थितियों पर निर्भर है ? आध्यात्मिक परिस्थिति क्या कुछ नहीं है ? भारत में वाह्य परिस्थितियों के अभाव में क्या हम कुछ हेठे हैं ?

५] प्रगति क्या समाजवाद ही है ? गांधीवाद क्यों नहीं है ? हमारी पुरानी संस्कृति में कमी ही क्या है ? विदेशी प्रभाव क्या देशी चिन्तन से श्रेष्ठ है ?

६] विज्ञान का अन्त क्या है ? मनुष्य की व्याख्या क्या विज्ञान पर ही निर्भर होगी ? क्या इस प्रकार अन्ततोगत्वा कला विज्ञान की दासी नहीं हो जायेगी ?

७] प्रगति का दंभ इसी युग में क्यों हो ? वह तो सदैव ही होती है। कभी कम कभी अधिक। क्या हमारा यह ज्ञान सापेक्ष नहीं है ? यदि वह संकुचित है तो इस विराट सृष्टि से मनुष्य का तादात्म्य कहाँ है ?

८] क्या भारतीय योग मार्ग में ही वह तादात्म्य नहीं है, जो व्यक्ति के पूर्णत्व का बिंब है; यदि वही पूर्णत्व है तो वह बाह्य परिस्थिति पर कहाँ अवलम्बित है ? क्या इसी पूर्णत्व को ही भारतीय साहित्य आज तक अपना लक्ष्य बना कर नहीं चलता रहा है ?

९] भारत में और संसार में जो महापुरुष हुए हैं, क्या उनका जीवन हमारे लिये कोई महत्त्व नहीं रखता। समाजवादी जिस ज्ञानदंभ से विवेचन करते हैं उससे प्रगट होता है कि सारे त्रिकाल की बुद्धि उन्हीं में है। क्या उन्हीं की भांति कोई भी अपने सिद्धान्त की कसौटी पर अन्यों को नहीं कस सकता ?

१०] मार्क्सवादी चिंतन रहस्यानुभूति को कोई स्थान नहीं देता। हमारे साहित्य ने उसे बिंबित किया है। क्या भविष्य में वह सब व्यर्थ माना जायेगा ? क्या मनुष्य की उन अभिव्यक्तियों का अपना विशेष स्थान नहीं है और भविष्य में भी उनका विकास अपनी विशेष परिस्थितियों में नहीं होगा ?

११] क्या रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति ने जिस प्रकार प्राचीनकाल में अपने युग की सीमाओं को पार किया था, वैसे ही आज के युग में जबकि कुछ विचारक अपने को ही बुद्धि का पर्य्याय समझते हैं, रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति फिर इस युग की सीमाओं को पार ही नहीं कर सकती ?

१२] क्या साम्यवादी यथार्थवाद के नाम पर जो रचनाएँ रूस चीन में महान कहला रहीं हैं, वे सचमुच उतनी ही महान हैं, जितनी कि पुराने युगों के वर्गीय समाज के महाकवि लिख गये हैं ? क्या प्रतिभा वर्ग पर निर्भर है या व्यवस्था पर ? यदि ऐसा नहीं है तो यह वर्गीय विश्लेषण क्या कमाल करता है ? क्या साम्यवादी यथार्थ ही साहित्य का अन्तिम भविष्य है ? व्यक्ति की मौलिकता क्या इस योजनावाद में नष्ट नहीं हो जाती ?

१३] सामंतीय काल में (उदाहरणार्थ) तुलसी ने रामचरितमानस के द्वारा एक आदर्श सामन्त परिवार की सृष्टि की, तो क्या ये परिवारिक सम्बन्ध एक सामन्त के लिये ही आदर्श थे, जनता को इनसे कोई मतलब ही नहीं था ? क्या शेक्सपियर ने भी सामंतीय युग बन्धनों में जनता का लाभ नहीं किया ? इत्यादि ।

यह कुछ प्रश्न हैं जो हमारे सामने पक्ष प्रतिपक्ष का विवेचन करते समय आकर उपस्थित होते हैं। हम इनका ही विवेचन करके देखना चाहते हैं क्योंकि ये प्रश्न साहित्य के मूल से सम्बन्ध रखते हैं।

'दिनकर में अन्तर्विरोध' नामक लेख में प्रसिद्धनारायणसिंह ने (नया पथ दिसम्बर १९५४) दिनकर के जिस व्यक्तिवाद और समाजवादी दृष्टिकोण की उलझन दिखाई है, वह भी व्यक्ति और समाज को द्वन्द्व के रूप में उपस्थित करता है। दिनकर कहते हैं :

काँटे पथ में हैं अगर व्यक्ति के पाँवों में
तुम अलग अलग जूते क्यों नहीं पिन्हाते हो ?
—धूप और धुँआ

तथा अन्यत्र कहते हैं —
किंतु उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को ।
—कुरुक्षेत्र पृ० १८ ।

प्रसिद्धनारायणसिंह ने मौलिक प्रश्न उठाया है। छायावाद के बाद के समय में प्रगतिवादी स्कूल ने सामूहिकता को प्रश्रय देते समय वैयक्तिकता को प्रायः त्याज्य कहा है।

इन दोनों का उचित समन्वय कहाँ है यही ऊपर उठाये गये प्रश्नों के उत्तरों में निहित है अतः उन्हीं का विश्लेषण करना आवश्यक है।

१] व्यक्ति समाज की व्यवस्था में बद्ध होता है। किन्तु राजा शिवि की कथा प्रसिद्ध है कि उसने कपोत को बचाने के लिये बाज़ को अपना माँस काट कर दे दिया था। ख़ैर यह तो पौराणिक कथा है। गौतम बुद्ध के पास तीन विशाल तिनखण्डे, पँचखण्डे और सतखण्डे प्रासाद रहने के लिये

होने पर भी वह क्यों सब को त्यागकर चला गया था ? क्या कारण था कि कुम्भनदास अकबर के दरबार में जाकर तिरस्कार सा करके लौट आया था। क्या कारण था कि तुलसीदास किसी राजा का आश्रित कवि बनकर सुख से नहीं रहा था ? कार्ल मार्क्स अच्छे परिवार में जन्मा, एंगिल्स व्यापारी था, किन्तु वे जीवन भर दुख उठाते रहे। जवाहरलाल नेहरू किसी अच्छी सरकारी नौकरी पर क्यों न चला गया ? जेल क्यों गया ? गांधी व्यर्थ ही नोआखाली में क्यों चक्कर लगाता फिरा ? ये तो हुए प्रसिद्ध व्यक्ति। मेरे एक मित्र के पहाड़ी इलाके (अल्मोड़े) में रहने वाले (पाण्डेय) पूर्वज जागीरदार थे। उनसे कहा गया कि अँगरेज़ी राज आने पर वे अपनी वसूली जमा करने मैदान में उतरें। उन्होंने इसे शान के विरुद्ध समझा और जागीर छोड़दी। ब्राह्मणों की ऐसी अकड़ तो भारत में प्रसिद्ध ही है। यह सब क्या है ? सरमद क्यों शहीद हुआ ? क्या ये सब ऐसे व्यक्ति न थे जिन्होंने समाज को जीवित शक्ति दी ? क्या वे स्वेच्छा से ही प्रेरित नहीं थे। उपर्युक्त उद्धरणों की किसी देश में भी कमी नहीं। जब सिकन्दर बड़े गर्व से डायोजनीस के पास पहुँचा तो उसने उसके गौरव पर ध्यान ही नहीं दिया। सुकरात ने विष क्यों पिया ? राम ने बनवास क्यों सहा ? युधिष्ठिर इतना कष्ट पाकर भी अपने कौरव भाइयों के प्रति इतना अधिक सहिष्णु क्यों था ?

इन प्रश्नों का व्यक्तिगत रूप से उत्तर देना कठिन है। कई मुसलमान कवि कृष्ण और राम के भक्त हुए, जब कि इस्लाम में यह वर्जित था। यह सब महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे, इनका समाज पर प्रभाव भी पड़ा। यह उनकी स्वेच्छा ही थी। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इनकी सद्भावना या विद्रोह या गौरव के पीछे कोई सामाजिक कारण था या नहीं। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि व्यक्ति में ही समाज का दलितवर्गीय दुख व्याप्त होता है, वह व्यक्ति उच्चवर्गीय भी हो सकता है। जिसको वैभव और सुख कहा गया है, इन लोगों ने उससे भी बड़े वैभव और सुख को अपनाया, वह था मानव कल्याण, जिसके लिये ईसा ने अपनी सूली अपने आप ही उठाई थी।

व्यक्ति ही समाज की परिस्थिति में सुख-दुख से प्रभावित होता है। वह दूसरों के लिये त्याग करता है। परन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत ही बिरले होते हैं। दूसरे उनका त्याग समाजगत व्यवस्था के अन्तर्गत होता है, और उनका विद्रोह उत्पादन के साधनों की जड़ों को नहीं हिला पाता। उनके सामने यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं, अप्रत्यक्ष रूप से यश और कीर्ति की महान लालसा होती है। अतिरिक्त इसके वे आदर्श को व्यक्ति से ऊपर रखते हैं। उनके जीवन में वास्तव में स्वेच्छा उतनी नहीं होती जितनी कि समाज की कोई आवश्यकता उनके माध्यम से अपना स्वरूप पकड़ती है। भारतीय चिन्तन ने इस बात को दूसरी ही भाँति कहा है। चौबीस अवतारों में जो ऋषभदेव और बुद्ध को भी स्वीकार कर लिया गया तो उसका कारण यह कहा गया है कि अमुक समय में अमुक प्रकार की ही आवश्यकता थी। भारतीय चिन्तन में यह बात दूसरे रूप में यों भी कही गई है—कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तब-तब भगवान् रक्षा करने को जन्म लेते हैं। यह भी समय के परिवर्तन की अभिव्यक्ति की स्वीकृति ही है।

व्यक्ति महान होता है, किन्तु वह समाज व्यवस्था के अन्तर्गत ही होता है। व्यक्ति की महानता तब तक पूरा काम नहीं करती जब तक कि उसके साथ सामाजिक आवश्यकताएँ भी नहीं मिल जातीं।

जिस प्रकार हमारी कल्पना असंख्य हो सकती हैं परन्तु असीम नहीं हो सकतीं, अर्थात् हम कितनी ही कल्पनाएँ कर सकते हैं, किन्तु अपनी शब्दावली के परे की चित्रावली की कल्पना भी नहीं कर सकते। उसी प्रकार व्यक्तित्व असंख्य हो सकते हैं, किन्तु वे समाज व्यवस्था से बिल्कुल अलग या परे नहीं हो सकते।

मनुष्य प्रतिदिन संसारको सुन्दरतम बनाना चाहता है। कुछ स्वार्थी उल्टा काम करते हैं। इसी को अच्छे-बुरे के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। यद्यपि अभी तक यह समझा जाता था कि कुछ व्यक्ति अपने आप अच्छे, कुछ व्यक्ति अपने आप बुरे होते हैं, फिर भी भारतीय चिंतन ने यह स्वीकार किया है कि प्रभुता और ऐसे ही माया के अन्य कारण व्यक्ति को बिगाड़ते हैं। प्रारम्भ से

ही व्यक्ति ने यह चेष्टा की है कि व्यवस्था की विषमता के सामने समर्पण नहीं करे। इसीलिये युधिष्ठिर ने कहा था कि मैं तो बड़े आदमियों के बताये रास्ते पर चलता हूँ। मनुष्य आदर्श बनाकर चलता है।

समाज व्यवस्था व्यक्ति को प्रभावित करती है, उसकी सीमाएँ बाँधती है, व्यक्ति की स्वेच्छा से समाज व्यवस्था पलटती नहीं। वह भौतिक कारणों पर ही निर्भर होती है। किन्तु व्यक्ति आदर्श के लिये जीता है। उसके आदर्श युग-युग में उसकी भौतिक परिस्थिति से निर्गत वातावरण से बनते हैं। वह उनसे अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति का सुख जब जन कल्याण का आदर्श बनता है, तब वह समाज की आवश्यकता से ही परिचालित होता है। अतः व्यक्ति और समाज को अलग करके देखना ग़लत है। किन्तु व्यक्ति को समाज के भीतर यान्त्रिक ढङ्ग से देखना केवल कुत्सित समाजशास्त्री का ही काम है। कभी-कभी व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर भी काम करता है और राजनीतिक पार्टियों में शोषकवर्गों के प्रतितिधि ऐसे ही होते हैं। ऐसे ही पात्रों को प्रेमचन्द ने भी वर्णित किया है। किन्तु प्रेमचन्द ने भी अन्त में यह स्वीकार किया कि व्यक्ति अन्ततोगत्वा समाज की सीमा में ही बद्ध होता है। परिवर्त्तन का मूल कारण भौतिक परिस्थिति में होता है। वही जन-कल्याण का असली माध्यम होता है। अतः स्वेच्छा समाज से स्वतन्त्र नहीं होती। यही कारण है कि विशेष युग में विशेष प्रकार का ही व्यक्ति दिखाई देता है। वैसा ही व्यक्तित्व न तो फिर मिलता है, न युग के परे का ही कोई व्यक्ति दर्शन देता है।

मनुष्य की यशोलिप्सा भी उसकी सामाजिक परिस्थिति का ही परिणाम है, जिसे मिल्टन 'महान की निर्बलता' कहा करता था। यह है उसकी स्वेच्छा का वास्तविक स्वरूप। जो स्वेच्छा को स्वतन्त्र समझता है वह समाज में रहकर भी उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता।

२] साहित्य समाज की व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिम्ब होता है। किन्तु प्रतिबिम्ब होने का अर्थ यह नहीं है कि वह केवल अरस्तू के शब्दों में नकल होता है। वह इतिहास नहीं होता। वह केवल घटनाओं को दर्ज करना भर नहीं होता। वह हृदय पक्ष की अभिव्यक्ति देता है। साहित्य यद्यपि समाज

पर आश्रित होता है, समाजगत व्यक्ति के विषय को ही प्रदर्शित करता है, किंतु वह समाज में जीवित व्यक्तियों का चित्रण करता है, और जीवित व्यक्तियों की समस्त भावनाओं को प्रगट करता है। वह मनुष्य के सुन्दरतम और उदात्त भावों को जीवंत रूप में उपस्थित करता है और यही कारण है कि वह इतना मनोहारी होता है।

समाज व्यक्ति के रहन-सहन का स्वरूप प्रगट करता है। भौतिक वस्तुएँ उसका जगत बनाती हैं। किंतु साहित्य मनुष्य के उस अन्तर्जगत को अभिव्यक्त करता है, जो भावक्षेत्र से सम्बन्ध रखता है। भाव यद्यपि भौतिक जगत से ही उत्पन्न होता है, अर्थात् भाव भौतिक जगत पर आश्रित होता है। वह मनुष्य की विकसित अवस्था का परिचायक होता है। भाव के माध्यम से मनुष्य मनुष्य के निकट आता है और उसकी प्रवृत्तियों को उनसे उदात्त जीवन का आभास मिलता है, जो उसे पशुत्व की सीमाओं से ऊपर उठाती हैं। यह उदात्त भावना ही व्यक्तियों में प्रगट होती है। साहित्य ही उस भावक्षेत्र का कोष है जो मनुष्य के संचित ज्ञान का मानवीकरण करता है, उसे एक गत्यात्मकता देता है और उसे जीवनशक्ति प्रदान करता है।

प्रश्न का मूल यह है कि साहित्य क्या है? तब हमें अनेक विद्वानों के विचार याद आते हैं। अरस्तू से लेकर गोर्की तक और भरत से लेकर आधुनिक तम भारतीय विचारकों की साहित्य सम्बन्धी व्याख्याएँ याद आती हैं। यदि इस प्रश्न को विस्तार से लिया जाये तो इसी पर असंख्य पृष्ठ लिखे जा सकते हैं। किन्तु संक्षेप में यही कहना आवश्यक है कि—

अ] साहित्य समाज की व्यवस्था से प्रभावित होता है।

आ] साहित्य का जन्मदाता पहले समूह था, अब व्यक्ति है और इसका कारण व्यस्थान्तर्गत विकास का ही परिणाम है।

इ] साहित्य समाज के वाह्य का ही वर्णन नहीं करता।

ई] वह मनुष्य को चित्रित करता है, उसके वाह्य और अन्तस्थ दोनों का चित्रण करता है। उसे उसके सम्पूर्ण वातावरण के साथ उपस्थित करता है।

उ] वह मनुष्य के भावपक्ष को ही अपना मूलाधार बनाता है।

ऊ] साहित्य विचार से प्रेरित होता है, किन्तु विचार ही उसकी शक्ति नहीं होता, उसकी शक्ति तो मनुष्य की परिस्थिति को, उसके समस्त वातावरण में रखकर, उसकी समस्त भावनाओं के साथ देखना ही है। मनुष्य को मनुष्य रूप में देखना ही साहित्य का प्राण है।

ए] साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति का विकास है, और व्यक्ति का असली विकास उसके समस्त वातावरण का विकास है। इसी को जनकल्याण की भावना कहते है। इसी दृष्टिकोण की व्याख्या करने पर हमें 'मानवीयतावाद' ही साहित्य का मूल प्राण दिखाई देता है।

ऐ] साहित्य में वह भाव अशक्त होता है, जो व्यक्ति को समाज से अलग करके देखता है। साहित्य की मानवीयता ही उसके उदात्त स्वर का प्राण है। उदात्तीकरण के कारण ही साहित्य अपना कोई सानी नहीं रखता।

कालिदास से लेकर 'प्रसाद' तक हमें विभिन्न परिस्थितियों में साहित्य में यही स्वर सुनाई देता है। किसी कवि में यह कम है, किसी में अधिक। अपने-अपने युग के प्रभाव से प्रत्येक कवि प्रभावित हुआ है और होता रहा है। किंतु उनके विभिन्न काव्यों में हमें वही सौन्दर्य का सृजन मिलता है जो युगान्तर में मन को हरने वाली शक्ति रखता है। वह इतने वैविध्य में जो एकता का स्वर है, वही हमें मैक्सिमगोर्की में भी प्राप्त होता है। यांत्रिक रूप से लिखे गये साहित्य में वह नहीं मिलता। वैविध्य अपने-अपने युग का होता है। वैविध्य युगीन होता है और मनुष्य को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करता है। उन विभिन्न युगों में मनुष्य किस प्रकार जीवित रूप में रहता है, वह साहित्य में ही प्राप्त होता हैं। सहज बात यह है कि साहित्य के क्षेत्र में 'अच्छा आदमी' मिलता हैं। प्रगतिशील चिंतन इसी 'अच्छे आदमी' की खोज करता है। अच्छा वही है जो अपने स्वार्थ से परे संसार का कल्याण करता हैं। पुराने लोग इसी भाव की अभिव्यक्ति के लिये 'ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द' की प्राप्ति साहित्य का लक्ष्य बताया करते थे। ब्रह्म का आनन्द उनके दृष्टिकोण में मनुष्य की भावभूमि पर प्राप्त होने वाला उच्चतर आनन्द था। वे साहित्य के साधारणीकरण कृत आनन्द को उसी कोटि में रखा करते थे।

अन्यत्र मैं 'लोककल्याण' और 'मानवीयतावाद' पर विस्तार से विवेचन कर चुका हूँ अतः उसे यहाँ दुहराना अनावश्यक है ।१

साहित्य के अन्य कामों में एक काम यह भी है कि वह मनोरंजन करता है। मनोरंजन के प्रकार होते हैं। वह कुत्सित भी हो सकता है, और सत् भी हो सकता है।

साहित्य सत् का पक्ष लेता है। जब हम सत् की बात करते हैं तब हम तीसरे प्रश्न के सामने आते हैं जो सत् की व्याख्या के विषय में प्रश्न उठाता है कि सत् है क्या जिसको मनुष्य इतना गौरवान्वित करने का प्रयत्न किया करता है। इस सत् के उत्तर पर ही साहित्य का प्राण निर्भर होता है। इस को ही दार्शनिकों ने विचार के क्षेत्र में अपना विषय बनाकर इतनी ऊहापोह की है। अतः इसी को देखना आवश्यक है।

३] मैंने पहले कहा है कि मनुष्य जीवित रहने के पहले अपने सामने जीवन की एक व्याख्या प्रस्तुत कर लेने का प्रयत्न करता है। यह सत्य है कि हमें, सभी को एक दिन मृत्यु के मुख में जाना है, किन्तु मनुष्य सदैव ही मृत्यु के ऊपर जीवन को महत्त्व देता आया है।

ईमानदारी से देखा जाये तो यह स्वीकार करना ही उचित है कि जो कुछ संसार में हम करते हैं, वह मनुष्य को सुखी बनाने के लिये करते हैं। मनुष्य ही मनुष्य के समस्त चिन्तन का मूल रहा है। सबसे पहले मनुष्य ही मनुष्य का विषय बना। और परस्पर मिलन से भाषा का विकास हुआ। भाषा के विकास से मनुष्य के चिन्तन ने वे ध्वनियाँ ग्रहण कीं जिनके माध्यम से वह अपने विचारों को न केवल उसी विचार के रूप में दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ हुआ,

---

१. विस्तार के लिये देखना आवश्यक है—शेष पूरक यहाँ मिल सकेंगे–

१] प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड– रांगेयराघव
२] काव्य, कला और शास्त्र ,,
३] समीक्षा और आदर्श ,,
४] महाकाव्य : विवेचन ,,
५] काव्य के मूल विवेच्य ,,
६] संगम और संघर्ष ,,

उसके विचार जीवित रहना भी सीख गये। मनुष्य की किसी पीढ़ी ने भी अपने को पूर्ण नहीं समझा। हर पीढ़ी ने यही समझा कि उसकी सन्तान उसका कार्य्य पूरा करेगी। यदि इसे अत्यन्त ही सहज रूप में देखा जाये तो आम का पेड़ लगाने वाले वृद्धों को देखा जा सकता है, जो जानते हैं कि फल आने तक वे कभी भी जीवित नहीं रह सकेंगे, किन्तु बड़ी आशा और चाव से पौधे लगाया करते हैं। यही इस मानव जाति की स्वार्थ परम्परा है, जिसकी शक्ति के बल पर ही मनुष्य जाति सर्वविजयिनी होकर जीवित रही है।

यद्यपि दर्शन विभिन्न रूपों में मनुष्य के सत् को वर्णित करता है और ईश्वर को भी बहुत से लोग सत् कहते हैं, किन्तु सत् मूलतः मनुष्य का जीवित रहने का स्वार्थ है। स्वार्थ शब्द का बुरा अर्थ नहीं लगाना चाहिये। इसे ही जिजीविषा—अर्थात् जीवित रहने की इच्छा कहते हैं। जीवित रहने के ही सिलसिले में यह बहुकृत्य बहुकरणीय जीवन हमने अपने आप चारों ओर पैदा किया है और इसका उद्देश्य यही रहा है कि हम परिवर्त्तन करते हुए, भौतिक साधनों से अधिक सम्पन्न होते हुए भी मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहँचाने। मनुष्यमात्र सुखी हो और उसे आनन्द मिले। वहीं जहाँ मनुष्य सुखी है, हम स्वर्ग जैसी व्यवस्था की कल्पना करते रहे हैं।

विभिन्न युगों में जो मनुष्य ने विभिन्न दर्शन बनाये हैं, जो काव्यों का सिरजन किया है, जो विद्रोह किये हैं, ईश्वर के रूपों को पहँचानने का प्रयत्न किया है, सृष्टि के रहस्यों को खोजने की चेष्टा की है, वह विविध रूप लेकर प्रगट हुई है। उस सबके मूल में यही ऐषणा रही है, और इसी को उसने सत् कहा है। इसी सत् को उसने गौरवान्वित किया है क्योंकि यही व्यापक सत् रहा है।

बलिदानों को इतना स्तुत्य इसीलिये कहा गया है कि व्यक्ति वहाँ दूसरों के सुख के लिये अपने को मिटा देता है। टेनीसन ने जब 'हाफ़एलीग' कविता में छ सौ सैनिकों की, कप्तान की ग़लत आज्ञा से, मृत्यु दिखाई है और उसके प्रति कवि को हम गद्गद् देखते हैं तब हम उस देश प्रेम को देखकर गद्गद् होते हैं, जिसमें कर्त्तव्य के लिये प्राण देने की अभूतपूर्व तत्परता दिखाई देती है। यद्यपि हम उस कविता के लिये विदेशी हैं; परन्तु हमें भी वह अच्छी लगती है। टेनीसन ने एक अन्य कविता में १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह का भी

वर्णन किया है। उसमें वह अङ्गरेज साम्राज्यवादियों की प्रशंसा करता है और विद्रोही भारतवासियों को क्रूर कहता है, गुलाम तबियत आत्मसमर्पण करने वाले भारतीयों की बफादारी की स्तुति करता है तब हम उसे अच्छा नहीं समझते। न हममें उस कविता के प्रति कोई सहानुभूति ही जागती है। इसका कारण यह है कि पहली कविता केवल कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ वीरों का वर्णन करती है, जो कि किसी भी देश के लिये एक गौरव की वस्तु है तो सब ही उसे स्तुत्य कहते हैं, किन्तु दूसरी कविता में वह गुलाम बनाने वालों को स्तुत्य कहता है और लामुहाला शोषित व्यक्तियों को उससे चिढ़ होना स्वाभाविक है। पहली कविता में मनुष्य का व्यापक सत् है, दूसरी में वैसा नहीं। उसमें जिस सत् की स्तुति है, वह राष्ट्रों में टक्कर पैदा करता है अतः वह सत् भी नहीं है। इसी प्रकार जब डा० इकबाल बृहद् मानवीय सत्यों को उभारते हैं तब अल्लामा की तारीफ किये बिना नहीं रहा जाता, लेकिन जब वह इस्लाम की साम्प्रदायिकता का प्रचार करते हैं तब वह वस्तु कोई विशेष आकर्षण नहीं रखती। इसी प्रकार जब तुलसी वीर राम को रावण के विरुद्ध दिखाते हैं तब मन उत्फुल्ल होता है, क्योंकि रावण को हम अत्याचारी के रूप में ही परम्परा से जानते आये हैं, किन्तु जब वे ब्राह्मण की स्तुति प्रारम्भ करते हैं तब हमें उनमें कोई आकर्षण नहीं दिखाई देता। यह सब व्यापक 'सत्' का प्रश्न है।

सृष्टि के रहस्य की व्याख्या से प्रारम्भ करके जो समाज की व्यवस्था से उसे जोड़कर मनुष्य ने अपना धर्म अथवा सम्प्रदाय अथवा दर्शन बनाकर रहने की चेष्टा की है, उसके मूल में यही रहा है कि वह यह समझने के प्रयत्न में रहा है कि वह व्यर्थ ही जीवित नहीं है। वह व्यर्थ ही नहीं मर जाता।

इस समस्त चिन्तन का मूल यही है कि वह सबसे अच्छी तरह जी रहा है और जीना चाहता है। उसे वर्त्तमान परिस्थिति में यही रास्ता ठीक दिखाई देता हैं और उसी पर आरूढ़ होकर चलता हैं! जो नहीं चलता वह ग़लत करता हैं। जो ठीक हैं वह पुण्य हैं, जो ग़लत है वह पाप हैं। इस प्रकार पाप और पुण्य के माध्यम से जिजीविषा ही अपने को प्रगट करती हैं, वही जीवित रहने का स्वार्थ स्पष्ट होता हैं, जिससे मनुष्यमात्र सुखी हो सके। यह सबसे बड़ा सत् है।

प्रगतिशील चिन्तन इसी सत् का वैज्ञानिक विश्लेषण से सशक्त हुआ रूप है। उसने पुराने सत् को परखा है और उसे ही आगे बढ़ाना चाहता है।

जो व्यक्ति सत् की इस व्याख्या को झुठा सकता है उसके सामने जीवन और मृत्यु का कोई भेद ही नहीं है। वह आत्महत्या को भी गौरवान्वित कर सकता है किन्तु वह सहज मानव नहीं है, क्योंकि मानव ही नहीं प्रकृति के प्राणिमात्र की मूल इच्छा जिजीविषा है। जिजीविषा का उदात्ततम व्यापकतम रूप ही सत् है।

४] भारत को अपनी आध्यात्मिकता पर गर्व है। कहा जाता है कि जो उन्नति अब हो रही है वह सब प्राचीनकाल में हो चुकी थी। केवल विदेशियों के आक्रमणों से वह नष्ट हो गई। इतिहास का माध्यम यह प्रमाणित नहीं करता कि पहले भी आज की वैज्ञानिक उन्नति में प्राप्त साधन भारत में मौजूद थे। पहले के समाजों में भी नायाब चीज़ें बनती थीं किन्तु वे किस प्रकार बनती थीं उनका कोई ज्ञान अब भी नहीं हैं। सिद्धों और योगियों के नुस्खों में ऐसा तथ्य नहीं है कि कोई भी उसी वस्तु को बना सके। उसके लिये साधना और योग्यता की आवश्यकता बताई जाती है। विज्ञान में ये परेशानियाँ भी नहीं हैं। पुराने चमत्कारों में ऐसी बातें हैं अवश्य जिन्हें देखकर आश्चर्य्य होता है जैसे न बुझने वाले चिराग़ और बिना डाटों के बहुत बड़ी छत बनाना इत्यादि। किन्तु ये काम तब भी दुर्लभ ही माने जाते थे। उनके पीछे जो ज्ञान था वह दुर्भाग्य से लुप्त हो गया। मैंने जड़ी बूटियों से अब भी गाँवों में दुर्दम्य रोगों का इलाज देखा है, किन्तु उसमें जड़ियों की पहचान की बात है और कुछ नहीं। योगी बनाकर प्राचीन व्यक्तियों को यहाँ सर्व समर्थ समझ लिया जाता है। योग मैस्मरिज़्म की सी शक्ति है और वह भी वैयक्तिक है। उसकी ओर विज्ञान का अब ध्यान जा रहा है और उससे मनुष्य की शक्ति बहुत बढ़ेगी भी। किन्तु अन्यत्र मैं बता चुका हूं कि योग वैयक्तिक वस्तु है। अतिरिक्त इसके, समाज व्यवस्था का प्रभाव उस पर भी पड़ता है।

आध्यात्मिकता की कोई एक कसौटी नहीं है। यदि ईश्वर में विश्वास को उसका आधार माना जाये तो वह हमारी परम्परा का एकांगी अध्ययन है क्योंकि यहाँ अनात्मवादी और अनीश्वरवादी भी योगी कहला गये हैं। सम्भवतः

आध्यात्मिकता का अर्थ यहाँ व्यक्ति के चरित्र की व्यापकता में माना गया है।

भावात्मकता अथवा अभावात्मकता के प्रति जो श्रद्धा है वह आध्यात्मिकता का वाह्यस्वरूप है। अध्यात्म वालों ने भी इस संसार में रहना सदैव ही आवश्यक समझा है। अभावात्मकता का आत्मा से जो भारत में अखंड सम्बन्ध पाया जाता है, उसका कारण यहाँ की जातियों का विदेशियों से पराजित होना माना जा सकता है। पराजित व्यक्ति को संसार में आनन्द की अनुभूति नहीं मिलती। वह ईर्षा के प्रति अग्रसर होता है। भारत में वह ईर्षा के स्थान पर उपेक्षा दिखाने की चेष्टा करता है। सामाजिक व्यवस्था की विषमता के कारण यहाँ भाग्यवाद का जोर रहा है। और भाग्यवाद ने जीवन की निराशा की ओर ही हमें आकर्षित किया है।

समाज की सम्पत्ति सम्बन्धी जो धारणा रही है उसने हमारे पाप पुण्य में अपने अनुकूल अपने-अपने युग में हमारी आध्यात्मिकता का निर्माण किया है। गीता का आध्यात्मवाद किस प्रकार ईसा से पुराने समय से शङ्कर तथा रामानुज से होकर, तिलक, गान्धी और बिनोबा के हाथों अपना स्वरूप धीरे-धीरे बदलता है, वह तो एक अलग ग्रन्थ का ही विषय है।

आध्यात्मिकता का एक मानदण्ड नहीं है। वह तो सृष्टि के रहस्य की खोज और चरित्र के उन्नयन का प्रयत्न है और समयानुकूल परिस्थितियों ने उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में निर्मित धारणाओं में परिवर्त्तन उपस्थित किया है।

'आज के पूंजीवादी युग में आध्यामिकता पर वे सबसे अधिक ज़ोर दे रहे हैं जो कि समाज के उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं और उसके लिये अधिक से अधिक ऐसी सुविधाओं का प्रयोग करते हैं जो कि विज्ञान की ही उपज है। जनसमाज जो कि भाग्यवादी आध्यात्मवाद से ग्रस्त है, उसे यथार्थ की विषमताओं के ज्ञान से दूर करने के लिये आाध्यात्म अधिक से अधिक पढ़ाया जाता है। वह जनसमाज कितना आध्यात्मिक है, वह उसकी दरिद्रता से प्रगट है, वह दुखी है, उसे शिक्षा तक नहीं मिलती।

आध्यात्मिकता वहीं श्रेयस्कर है जब कि भौतिक सुविधाएं व्यक्ति को प्राप्त हों। यह कहना कि भाग्य के कारण ही व्यक्ति दरिद्र या धनी होता है; यह तब

की बात है जब वह समाजशास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ था। आज यह परिस्थिति नहीं है। अतः आध्यात्मिकता इसमें नहीं है कि मनुष्य मनुष्यकृत ज्ञान सुलभ वस्तुओं का तिरस्कार करे, वरन इसमें है कि अपने हाथ में आई शक्ति का, वह अन्य मनुष्यों को दबाने के लिये अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये, दुरुपयोग नहीं करे। इस दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में शक्ति है, परन्तु साधन नहीं हैं। यदि हम पुराने साहित्य के उसी अंश पर जोर देते रहेंगे जो तत्कालीन परिस्थितियों में अपनी असमर्थता को छिपाने या उससे लड़ने को, आभावात्मकता को ही श्रेयस्कर मानता था तो हम साहित्य के माध्यम से पुराने विश्वासों को दुहरायेंगे, जिनका वस्तु जगत में अब आगे बढ़ाने का काम नहीं रहीं रह गया है। हमने इतिहास के उत्थान और पतन को अपनी जिस शक्ति से झेला है, वह इसमें नहीं है कि हम अपरिवर्त्तनशील हैं, वरन् वह शक्ति इसमें है कि हमने प्रत्येक परिवर्त्तन की अवस्था में अपने को उसका दास नहीं बनाया, वरन् उसका अधिक से अधिक, अपनी युग सीमा में उपयोग करके, अपने को उसके साथ बिठाया है। यही कारण है कि जब संसार की अन्य प्राचीन जातियाँ लुप्त हो चुकी हैं, हम जीवित हैं। परन्तु हम पहले जो कहते थे वही अब भी कहते हों ऐसा नहीं मिलता। हमने क्रमशः व्यापक दृष्टिकोण को रखकर विकास किया है। सनातन धर्म का अर्थ रूढ़ीवादी होना नहीं, वरन् परिस्थिति के अनुकूल होकर अपने को बदलते जाना है। उसके लिये हमने अपनी मानसभूमि सदैव खुली रखी है। जो खुलने में कसर है उसे हमें भौतिक रूप से समर्थ होकर दूर करना आवश्यक है। साहित्य ही उस अभाव को मिटाने का सबसे बड़ा साधन है क्योंकि वह बुद्धि और व्यक्तित्व का विकास करता है।

५] भौतिकवाद उन्नति को अपने व्यवहार में काम में लाकर, सशस्त्र सेनाएँ नियोजित करके रहना एक ओर, और कथन में कच्चे घरों में रहने की दुहाई, मशीन का विरोध करना दूसरी ओर—यह एक अन्तर्विरोध का परिचायक है।

प्रगति समाज को व्यक्ति का स्थान देने में ही है, क्योंकि वहाँ व्यक्ति का छोटा स्वार्थ हटकर समाज का व्यापक स्वार्थ आता है।

इसी व्यापक स्वार्थ की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति 'मैं' का 'हम' हो जाता है। सम्भवतः आत्मा का परमात्मा में मिलना भी इसी का अभिव्यक्तीकरण है, जिसके सामाजिक रूप में हमें संत महात्मा इतिहास में मिलते हैं जिन्होंने दूसरे के दुख को अपना दुख माना। किन्तु वे घटनाओं को व्यक्तियों के रूप में देखते थे, वे समाज में से लोभ मोह के मूल कारणों को हटा नहीं सके थे। तभी वे इस भौतिक संसार को दुख की जड़ मानकर त्यागने की सलाह दिया करते थे। सच तो यह है कि यह भौतिक संसार अपराधी नहीं है। इसका उपयोग व्यक्ति या समाज किस प्रकार करते हैं, इस पर निर्भर है।

अणु बम बनने से हम सृष्टि के ध्वंस के पास आ गये हैं। परन्तु यह उस ज्ञान का दोष नहीं है, जिसने अणुशक्ति का अनुसंधान किया है। यह उन स्वार्थों का दोष है जो उस शक्ति से दूसरों को दास बनाना चाहते हैं। जब अणु शक्ति नहीं थी तब भी मनुष्य 'माया' के पीछे एक दूसरे से लड़ता था। हाँ जब 'माया' नहीं थी तब वह नहीं लड़ता था। किन्तु 'माया' से मनुष्य पराजित क्यों हो ? वह मनुष्य है तो माया का स्वामी बने। उसमें 'लिप्त' न हो अर्थात् उसे माया इस प्रकार नियोजित न करे कि वह दूसरों का शोषण करे, और 'परमात्मा' अर्थात् 'समाज' को मारकर वह 'आत्महनन' का मार्ग पकड़े अर्थात् 'सत' को छोड़कर चले।

रोम में केटो ने भारतीय मलमल का आयात देखकर एक समय यह हाहाकार किया था कि भारत रोम को लूट रहा है उसने रोम के वस्त्र उद्योग को नष्ट कर दिया है। अनेक शताब्दियों बाद गांधी ने खादी का प्रचार किया कि भारत यूरोप के हाथों लुट रहा था। साधनहीन भारत ने उस समय अपनी अभावात्मक पद्धति को पकड़ा कि मशीनें नही हैं तो जाने दो हम चर्खा कात लेंगे। व्यवहार में यह हुआ कि लंकाशायर की मिलें फेल हो गईं। वहाँ तक तो ठीक था। परन्तु अब खादी ही पहनी जाये क्योंकि वह समर्थ बनाती है, तो प्रश्न उठता है कि क्यों पहनी जाये ? कपड़े तो कृत्रिम हैं, प्रकृति से सान्निध्य तो नग्नावस्था में होता है। जाड़ा बरसात सहिये, सिमेन्ट के मकान छोड़िये, कच्चे घरों में आग जलाकर रात काटिये, नंगे रहने से आपको वासना का उद्रेक भी कम होगा, जैसे पशुओं में समय पर होता है। बिजली, नल, रेल, हवाई

जहाज, चश्मा, घड़ी यह सब कृत्रिम हैं, व्यर्थ हैं। इन सबको त्यागकर 'हरि भजिये'। यदि यह कर सकें तो बहुत अच्छा। परन्तु कुछ चीजें छाँटकर रखना और कुछ टालना समझ में नहीं आता। हमारी नाकिस राय में तो मनुष्य जो अच्छी से अच्छी चीज़ बनाता जाये उसका प्रयोग होता जाये। हाँ नये प्रयोगों पर समाज नियन्त्रण रखे अर्थात् 'आत्मा' को 'माया' के 'मद' से बचाये रखे। वैसे तो सर पर झोंपड़ी और हाथ में 'तकली' लेना ही खुदा से बग़ावत है।

गांधीवाद का मानवतावादी पक्ष श्रेष्ठ है जो कि वैष्णव चिंतन का फल है। हाँ सम्पत्ति के मुख्य साधनों को शोषकों के हाथ में छोड़कर, उन्हें छूट देकर, घासपात चबाने की राह हमें ठीक नहीं लगती! हम इसे भी ठीक नहीं मानते कि मनुष्य ऐसे 'भोग' में रत हो जो उसका स्वास्थ्य बिगाड़े। जो स्वास्थ्य को भी ठीक है, जो कठिन भी नहीं है, सम है, वही आदर्श समाज में ठीक है। दूध, दही, मक्खन, खजूर, हाथ के पिसे आटे की रोटी, गायका ही घी इत्यादि उन समर्थ राजनैतिज्ञों के ही भोजन हैं जो त्यागी हैं, साधारण समाज तो घास-लेट में ही जिन्दाबाद कर रहा है।

'बड़ी माया' छोड़कर 'छोटी माया' पर ज़ोर देना प्रमाणित करता है कि 'बड़ी माया' से व्यर्थ ही डरा जा रहा है। 'बड़ी माया' के स्वामियों के 'हृदय परिवर्तन' की आशा करना 'छोटी माया वालों' का लक्ष्य है। ठीक ही है। जब तक जनसमाज अपने अनुभव से, शोषण भरे जीवन के परिणाम स्वरूप, जागता नहीं, तब तक तो 'बड़ी माया' का राज चलेगा ही। पर जब जनसमाज जागृत हो जायेगा, तब अपने आप 'बड़ी माया वालों का' हृदय परिवर्तित कर दिया जायेगा। और तब छोटी बड़ी माया दोनों मनुष्य की सेवा करेंगीं—सबकी, व्यक्तियों की नहीं। जहाँ यह मान लिया जाता है कि भगवान् की 'भूमि' यदि किसी के हाथ में पड़ जाने से 'उसकी' हो गई, उससे तो दान ही माँगा जा सकता है। पर जब समाज यह समझ लेगा कि ज़मीन 'भगवान्' की है व्यक्ति की नहीं, उसी दिन 'व्यक्ति' की जगह 'समाज' आयेगा। हर आदमी अलग-अलग अपना खाना, कपड़ा पैदा करे—इसका अर्थ ही यह है कि सामाजिक शक्ति की समन्वयवादी स्वीकृति नहीं है, कि मुझे खाना पैदा करना रुचिकर है, तुझे कपड़ा बनाना, तू अच्छे से अच्छे कपड़े बना मैं भी

पहनूँगा, मैं अच्छे से अच्छा खाना पैदा करता हूँ तू भी खा, न मैं नंगा रहूँ, न तू भूखा—यह असम्भव माना जाता है।

मैं गांधीवाद पर प्रहार नहीं करता। मेरा कहना तो केवल यह है कि गांधीवाद की वैयक्तिकता की निष्ठा सामाजिकता के मूलाधारों को इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान से भयभीत होकर अस्वीकृत करती है। किन्तु इतिहास पीछे नहीं लौट सकता।

अब विदेशी प्रभाव की बात कहूँ। वह केवल इतनी है कि समाजवाद का प्रारम्भ यूरोप में हुआ। परन्तु कोई चिन्तन कहीं जन्म ले, क्या वह इसी से विदेशी है? क्या चीन ने बौद्धमत का इसलिये निरादर किया कि वह विदेशी था? अहिंसा श्रेष्ठ है, परन्तु अहिंसा को, हिंसा के कारण मिटाकर, स्थायी क्यों न बनाया जाये। बल पूर्वक हिंसकों को हटाना हिंसा क्यों माना जाये, और हिंसक से विनय पूर्वक याचना क्यों की जाये। उसे केवल असहयोग की नकारात्मकता क्यों दिखाई जाये? 'भगवान्' की चीज़ पर उसका अधिकार किस आधार पर शाश्वत मानकर उसके हृदय परिवर्त्तन की प्रतीक्षा की जाये? इसका उत्तर है कि क्रान्ति रक्तहीन होनी चाहिये। रक्त का प्रश्न ही कहाँ है? राज्य ही गांधीवादियों का है। जो वे कहें वही नियम है। किन्तु इसमें भी एक अड़चन है। वह है जनता का जागरूक न होना।

आधुनिक कवि जीवन के नये निर्माण का एक रूप देख रहा है और वह उसकी अभिव्यक्ति करते हुए उसके भविष्य में अंकुरित होकर फलने-फूलने वाली शक्ति देख रहा है। वह अपने व्यक्तित्व को उस नवीन व्यापकता के लिये तैयार कर रहा है—

अनगिनत वह यन्त्र जिनमें अनगिनत जन
कर रहे निर्माण जीवन
मृत्यु के जबड़े क्षुधिततम
        क्या उन्हें खा जायँ?
और मैं कल्पित व्यथा का भार लेकर
देखता ही रहूँ जीवन की पराजय
हाथ पर रख हाथ!

आज मेरे प्राण का कम्यूनिज़्म है अर्थ
उसमें ही प्रबल वह शक्ति
उसमें ही अटल अनुरक्ति
पंक में डूबे हुए जीवन-कमल की धो पँखुरियाँ
मन्द सौरभ से करे रंजित
शुचि हृदय के गीत का आकाश ।

—अनन्तकुमार पाषाण

उसके प्राण का अर्थ कम्यूनिज़्म है । अर्थात् कम्यून का राज्य । अर्थात् समाज का राज्य । इसके अतिरिक्त कुछ नहीं क्योंकि वह यह नहीं कहता कि कम्यून का अर्थ एक विशेष निरंकुश पार्टी से है जो अपने ही को ठीक कहती हैं । उस प्रकार का अधिनायकत्व भारत के लिये विदेशी है । किसी प्रकार के भी विरोध या अन्य बात को वर्गगत स्वार्थों का प्रतिनिधि कहकर कुचलने की प्रवृत्ति समाज से स्वतन्त्र चिंतन की शक्ति को छीन लेती है ।

मैं मार्क्स के चिन्तन को अधिकांश मानता हूँ, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं यह भी मानता हूँ कि मार्क्स जो कह गया है, शाश्वत युगों तक मनुष्य के चिंतन का आधार उसी नींव पर खड़ा रहेगा । मार्क्सवाद का आधार लेकर चलने वाले राज्य यह मानते हैं कि अमुक वस्तु ठीक है क्योंकि वह मार्क्स के कहे सत्यों से ठीक है, अमुक वस्तु गलत है, क्योंकि वह मार्क्स के कहे सत्यों से ठीक नहीं है । उनकी राय में आगे उन्नति होगी, परन्तु मूलाधार यही होगा । यदि कोई कुछ और कहता है तो पार्टी कहती है कि व्यवहार में यह विचार वर्ग स्वार्थ का पोषक है, क्योंकि वर्गहीन समाज का पोषक विचार मार्क्सवाद ही है, और पार्टी उसका असली व्यवहार जानती है, क्योंकि पार्टी जनता है, जनता पार्टी है, पार्टी और जनता एक हैं, क्योंकि पार्टी का अपना कोई स्वार्थ नहीं, वह तो जनता के स्वार्थ का प्रतिनिधित्व करती है । यदि आपको विरोध हो तो पार्टी के भीतर विरोध करिये, बाहर रहकर विरोध करना जनता का विरोध करना है । भीतर रहकर आप विरोध करिये, मगर बहुमत ही पार्टी में बुद्धि का मानदण्ड है अतः वही ठीक है, आप अगर सहमत नहीं हैं तो भी उसे स्वीकार करिये, क्योंकि पार्टी जनता है, जनता पार्टी है ।

यह विदेशी ढाँचे के कम्यूनिज़्म का रूप है। यह तो आवश्यक ही नहीं है कि वही ढाँचा भारत भी अपनाये। उसका तो अपना विकास होना है। वह ढाँचा उनके लिये ठीक था, क्योंकि उनके देश की परिस्थिति ही ऐसी थी। विशेषकर रूस की जनता १९१७ ई० में उसी दर्जे में बहुतायत से थी, जिस दर्जे की नागरिक स्वाधीनता जानने वाली हमारी बहुत ही पिछड़े हुए रजवाड़ों की जनता है।

विदेशी अनुकरण के सम्बन्ध में हिन्दी का एक कवि विचार करता है। 'मीर आलम के तालाब के किनारे' कवि सोचता है कि वह संसार की कई जगहों के नाम सुन चुका है किन्तु उसका अपना मन उनसे सीधे ही परिचित नहीं है। वह विचार करता है कि क्या उनके वैभव में कुछ अतिरंजना नहीं है? कविता यों है—

पानी ही पानी है,
कार्तिक की पूर्णिमा हैदराबाद में
कम से कम मीर आलम के तालाब के किनारे
कितनी सुहानी है।
खूबसूरत जगहें मैंने नहीं देखीं
काश्मीर देखा है न देखा है कलिंपॉंग
मलाबार के किनारे नहीं देखे—
न बोल्गा देखी है, न यॉंगटीसीक्यॉंग
मगर मैं ऐसा नहीं सोचता
कि इन्हें न देखकर मैंने
तबियत के सहारे नहीं देखे।

× ×

नये ज़माने के मामूली कवि
सच्ची छवि बीज है खेत का,
उल्टी पड़े चाहे सीधी
अकुँराती है, आदमी अगर ईमान से
बोले तो उसकी वाणी सुनी जाती है।

× ×

······नज़रें अपने से दूर लगाओ
उस छोटी सी टिमटिमाती बत्ती पर, जो
इस रात में ऐसी लग रही है, जैसी पाँच बजे
सुबह लगती है, ओस की बूँद घनी पत्ती पर।
पहाड़ियों की कतार जैसे घास की पत्ती है।

—भवानीप्रसाद मिश्र

और वह ईमान की बात पर सबसे अधिक बल देता है, क्योंकि यह उसे सबसे बड़ा मानदण्ड दिखाई देता है। यहाँ मैं इस कविता की उपमाओं के सौन्दर्यपक्ष पर नहीं जा रहा हूँ, केवल कवि के चिंतन से मेरा सम्बन्ध है।

वह अपने देश की सुन्दरता का वर्णन करते समय जिस आत्मीयता का प्रदर्शन करता है वह श्रेयस्कर है, क्योंकि उसमें कोई जड़गर्व नहीं है, जो किसी के अधिकार को छीनने का प्रयत्न करता हो। अपने को अभावपूर्ण समझ कर उसे छोड़ने की राय नहीं देता, वह तो अपने का ही निर्माण करना चाहता है। उसका अप्रत्यक्षरूप से तात्पर्य है कि लाओ, मेरी धरतीपर विदेशी खाद भी डाल दो, परन्तु जो फल उगेगा वह मेरी अपनी धरती से उगेगा। विदेश से लाया हुआ फल कोई इस धरती पर उगा नहीं सकेगा, क्योंकि इसकी अपनी भी विशेषता है। तभी वह कहता है—

तेरा देश, उसका हर घर, हर गली, हर दृश्य
स्विट्ज़रलैंड की घाटियों की तरह खूबसूरत
और पुरनूर है,
अरे भाई तेरे लिये तो यही कोहेनूर है।

यह उसकी आत्मतुष्टि नहीं, उसके चिन्तन का परिणाम है और उसने इसमें युग के सत्य की पुकार ही उठाई है।

विदेशों के लिये वह लिखता है—

······हर जगह खाल खींची जा रही है,
बाल की और बालों की कमी न पड़े इसलिये
सिरों को सफ़ाचट मूँड़ने के कारखाने खुले हैं,

क्योंकि ज्ञान के ताले तोड़ने पर जो तुले हैं,
यह उनकी लाचारी है और एलान हो गया
है कि जो सर को मुंडवाने में आनाकानी
करेंगे उनके धड़ से अलग हो जाने की बारी है।

× ×

......कविता का उपयोग आज सुलाने के
लिये नहीं जगाने के लिये करना चाहिये
और नये ज़माने के मामूली कवि को भी
अपने लड़कों से—लोगों को जगाया था मैंने—
यह कहकर मरना चाहिये।

—भवानीप्रसाद मिश्र

कवि का यही रूप वर्त्तमान युग माँगता है। विदेशों में लेखकों पर बंदिशें हैं और उन्हें रोका जाता है कि आप जनवाद में व्यक्तिवाद का प्रचार करते हैं और साहित्य वही होना चाहिये जो पार्टीजीवन के अनुकूल हो, क्योंकि जीवन पार्टी है, पार्टी जीवन है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति की विशेषता मर भी जाती है। इस विषय को पुनः हम विचारेंगे। यहाँ संक्षेप में यही कहना आवश्यक है कि मनुष्य को बाँधना नहीं चाहिये।

युग विशेष में बहुधा ऐसा लगता है कि उससे बढ़कर कभी काम हो ही नहीं सका, न होगा। जो नियन्त्रण है, वही सबसे श्रेष्ठ है। इसमें बहुधा यह भुला दिया जाता है कि राजनीतिक संस्थाओं के सब ही व्यक्ति अच्छे नहीं होते, बहुत से वैसे ही छद्म में छिपे रहते हैं और बहुमत उनके साथ हो जाया करता है। इस प्रकार उनकी वास्तविकता प्रगट होने में भी काफ़ी समय निकल जाया करता है और उनके समय में लेखकों की प्रतिभाओं को कुचल भी दिया जाता है, वे आत्महत्या भी कर जाते हैं, जैसा कि मायकोवस्की ने कर लिया था।

६] विज्ञान का अन्त नहीं है। मनुष्य जितना ही अधिक इस प्रकृति की खोज करता है, विज्ञान उतना ही विकास करता है। मनुष्य के ज्ञान के साथ

ही विज्ञान का प्रारम्भ हुआ है। जिस दिन उसने पत्थर के प्रयोग से पशु को मार डाला था, उसने वस्तु का प्रयोग करना सीख लिया था और वह पशु से अलग हो गया था। मनुष्य का पशु से मूलभेद क्या है? पशु इस प्रकृति को जैसा पाता है, उसमें वैसे ही रहता है। मनुष्य प्रकृति को अपने अनुरूप बनाता है। कुछ पशु भी प्रकृति का प्रयोग करते हैं। पक्षी घर भी बनाते हैं। केवल मनुष्य ही अपना भोजन पैदा करना जानता है, पशु पक्षी नहीं जानते। आदिम अवस्था में मनुष्य भी अपने भोजन के लिए घूमा करता था।

मनुष्य के विज्ञान ने बहुत धीरे धीरे विकास किया। प्रकृति के चमत्कारों की खोज पहले भारत में योगी और सिद्ध लोग किया करते थे। प्राण साँगली में जो तरह तरह के नुस्खे लिखे हैं, वे उसी परम्परा के हैं। मैंने एक अत्यन्त प्राचीन १५ वीं शती की हस्तलिखित पोथी देखी थी जिसमें चर्पटनाथ के नुस्खे लिखे थे। चर्पटनाथ नाथ संप्रदाय के एक प्रसिद्ध योगी थे। उन्नीसवीं शती ने अचानक विज्ञान की इतनी उन्नति करली कि उससे संसार का रूप ही बदल गया। यहाँ मैं विस्तार से विज्ञान के विकास के साथ बढ़ते हुए मानव के विचार विकास को नहीं दिखाऊँगा क्योंकि संक्षेप में अन्यत्र उसका साहित्य से सम्बन्ध दिखा चुका हूँ। यहाँ केवल यह कहना उचित है कि वस्तु जगत और भाव जगत की विज्ञान अधिक से अधिक व्याख्या करता चला जा रहा है। उसने दर्शन की उन सूझों को प्राचीन अवस्थागत प्रमाणित कर दिया है। दर्शन जिन परिस्थितियों में पैदा हुए थे उनकी व्यवस्था की दूसरी ही अवस्था थी। वे दर्शन अपनी अटकल की बात को विज्ञान के सामने प्रमाणित नहीं कर सके।

विज्ञान के विषय में यह कहा गया कि उसने कला की बहुत हानि की। इसकी व्याख्या यों की गई कि पहले मनुष्य में एक श्रद्धा थी, जो उसे बुरा होने से रोकती थी। अब उसके भीतर कोई श्रद्धा बाकी नहीं है, वह बुराई से डरता नहीं, क्योंकि उसे परमात्मा का भय नहीं रहा। उसके सामने से शताब्दियों के पाप पुण्य की भावना ही लुप्त हो गई।

वस्तुतः इसका कारण यह नहीं कि विज्ञान ने पाप करने की सलाह दी। हुआ यह कि पुराने विश्वास जिन कल्पनाओं के आधार पर स्थित थे, वे

विश्वास नये अन्वेषणों से अवश्य हिल गये। उनके हिलने से ज्ञान का अवरूद्ध पथ खुल गया और नया पथ दिखाई देने लगा। नये साधनों की प्राप्ति और पुराने विश्वासों से आस्था का उठना ही इस द्वन्द्व का कारण बन गया। उसके लिये नये दर्शन की आवश्यकता है। और आवश्यकता के अनुभव से निश्चय ही नवीन साधन भी प्राप्त हो रहे हैं। यदि पुराने सिद्धान्तों से ही नये तथ्यों का विश्लेषण करें और नया रास्ता नहीं निकालें तो हम किसी ऐसे अंतर्द्वन्द्व में फँस जायेंगे जो हमें किधर का भी नहीं रखेगा। मनुष्य को तन्ततोगत्वा इस समस्त अन्वेषण पर शासन करना है। हठात् नये साधन आये और व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की पुरानी परम्परा में उन पर व्यक्तियों का अधिकार हो गया। अब जब तक इस सम्पत्ति, साधन और जीवन का सामंजस्य नहीं होगा तब तक यह विषमता सदैव ही रहेगी। विज्ञान जिस व्याख्या को करता है, वही असल होती है। जितना वह नहीं कर पाया है, उसे वह आगे करेगा। हम उसके अतिरिक्त वस्तु जगत की जो व्याख्या करते हैं वह कल्पना पर ही आधारित होती है। विज्ञान सतत निरीक्षण के माध्यम से प्रारम्भ हुआ था। आधुनिक कवि ने आज के दलित जीवन का चित्र उपस्थित किया है- जो दर्शनीय है—

मैंने देखा है इन्दु सरिस इस मन से,
मैंने देखा है बिन्दु बिन्दु इस तन से—
निकला है खूँ बन दूध और दृग–पानी;
निकली है बू झांमा बन इस जीवन से!
अब बुझी जोत, इन आँखों की, पर देखो—
इनमें सनेह का नीर अभी भी बाकी
यह सूखी छाती किंतु चीर कर देखो—
इसमें माता का क्षीर अभी भी बाकी।
पर हाय! चार पैसों के लिये सुधा की
यह सरसी इस वसुधा में सूख गई है;
भगवान! मर्त्य के चाँदी के टुकड़ों को
पाने में तेरी लक्ष्मी चूक गई है!

प्रिय बन्धु, सुनी तुमने यह व्यथा कहानी
कुछ एक नहीं, इसके अनेक हैं सानी;
यह उजड़ा बिगड़ा बाग इसे बनबाओ
यह भीख मांगती तुमसे कवि की वाणी।
इन कुम्हलाए कुसुमों को फिर मुस्कानदो
फिर जितने चाहो मुझसे सुख के गान लो।

—केसरी

कवि की अन्तर्व्यथा वर्त्तमान असाम्य को देखकर हाहाकार करती है। क्यों ?

क्योंकि समाज की विषमता उसका कारण है।

विज्ञान कुछ भला बुरा नहीं कहता। वह तो एक ठण्डा अन्वेषण है। वहाँ यदि बड़ी मशीन नहीं है, तो छोटी मशीन है। मसलन तकली भी विज्ञान का परिणाम है और हल भी विज्ञान का ही परिणाम है। बल्कि विज्ञान तो तब प्रारम्भ हुआ था जब मनुष्य ने पेड़ के पत्ते को मोड़ कर दौना बनाकर पानी पिया था। वही जो छोटा अन्वेषण था, बड़ा बनकर आया है, तो उससे डरने की क्या आवश्यकता है। वह तो मनुष्य की ईजाद है। मनुष्य ने अपने सामूहिक जीवन के ज्ञान से उसे बढ़ाया है।

अपने निरन्तर परिश्रम से संसार को सुखी करने के प्रयत्न में वह लगा ही रहा। एक दिन उसके हाथ से अनुसंधान हुए। वे सब उसके सामूहिक जीवन के परिणाम हैं। उन्होंने मनुष्य की दृष्टि को सृष्टि की विराटता की ओर खोला है। यद्यपि भारतीयों ने भी अपने निरन्तर निरीक्षण से सृष्टि की विराटता की कल्पना की थी, किंतु वह एक कल्पना मात्र थी। आज हम जिस विराटत्व को देखते हैं उसे हम देवता का स्वरूप नहीं देते।

किंतु विज्ञान मनुष्य को यांत्रिक बनाने की वास्तविक सामर्थ्य अपने में नहीं रखता।

"वैज्ञानिक मानवतावादी···यह स्वीकार कर लेता है कि स्त्री पुरुषों में इच्छाएँ और लालसाएँ होती है। इच्छा नामक मानवी शक्ति में वह विश्वास करता है। इच्छा ही मनुष्य को अपना जीवन अच्छी तरह बिताने के लिये

प्रेरित करती है। आनन्द और उच्च भाव दोनों उसके ही द्वारा प्राप्त होते हैं। अच्छा जीवन केवल इच्छा में समाप्त नहीं हो जाता। वह बुद्धि, ज्ञान, कल्पना भी चाहता है। अपने श्रेष्ठ रूप में वह एक ऊँचे दर्जे की रचनात्मकता चाहता है। किंतु इस सबके मूल में इच्छा ही काम करती है। यदि इसको स्पष्टतया स्वीकार नहीं कर लिया जाता तो दुख का कोई अन्त नहीं है। यदि इच्छा पर अप्राकृतिक प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं, तो विकार उत्पन्न होते हैं और ईर्ष्या, कुरूपता, और निर्दयता भी वाह्य रूप से पवित्रता बनकर प्रगट होते हैं। उस समय रूढ़िवादी और दिखावे वाले व्यक्ति ही नैतिकता के शासक बनकर प्रगट हो जाते हैं।''*

मनुष्य की इच्छा समाज की व्यवस्था पर ही निर्भर होती आई है। जिस प्रकार हमारी धारणाएँ बदलती जाती हैं, वैसे ही हमारी इच्छाएँ भी बदलती जाती हैं। जिस प्रकार विकास के कारण समाज में भाई बहिन का विवाह वर्जित होने पर सहज ही भाई बहन में संभोग की इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार इच्छा भी अपना रूप बदलती रहती है। विज्ञान व्यक्ति की इच्छा को तो मानता है परन्तु वह इच्छा के रूप को समाज से अलग करके नहीं देख सकता। विज्ञान साधन है, उसके प्राप्त होने से व्यक्ति को नयी शक्ति मिलती है और तब उस शक्ति से नयी इच्छा जन्म लेती है। वह इच्छा कैसी होगी, यह उसके समाज की व्यवस्था पर निरर्धारित होगा। यदि समाज में दूसरे पर अधिकार करने की गुँजायश होगी तो इच्छा अपने बर्बर स्वरूप को पकड़कर बढ़ेगी, किंतु यदि समाज में कल्याणकर भावना सशक्त होगी तो इच्छा वैयक्तिकता के दायरे के बाहर उदात्त होगी।

इच्छा के भी दो रूप हैं।

१] वह इच्छा जो व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के बीच में व्याघात डालती है, जैसे अधिकार इत्यादि।

२] वह इक्छा जो व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को अच्छा बनाती है, जैसे व्यक्ति की यश की कामना। यह कामना श्रेष्ठ है क्योंकि वह अच्छे काम करने पर निहित होती है। यही प्रेरणा हमें विभिन्न युगों के उदात्त वृतियों के

* साइंस एण्ड द मोरल लाइफ, मैक्स ओटोः पृ० १६१

महापुरुषों में मिलती है, जिसे कुछ लोग 'स्वेच्छा' कहकर समाज व्यवस्था से व्यक्ति का संबंध तोड़ना चाहते हैं। कला इसी का स्रोत बनाती है। एक वैज्ञानिक ने कला के विषय में कहा है: "बहुधा यह कहा जाता है कि विज्ञान और कला में मूल भेद यह है विज्ञान सार्वजनिक होता है, जब कि कला नहीं होती। वैज्ञानिक तथ्य हर एक के सामने प्रयोग के लिये उपस्थित रहता है, किंतु कला केवल विशिष्ट रुचि के लोगों को ही मनोरंजन देती है। बहरे के लिये संगीत का कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान का सम्बन्ध संसार की 'जनता' से है, जब कि कला का संबंध सबसे नहीं है। जिस व्यक्ति को रंगों की पहंचान नहीं है, वह चित्रों का आनन्द नहीं ले सकता, किंतु अन्धा आदमी जो कि जन्माँध है वह नेत्र सम्बन्धी ज्ञान पूरी तरह से प्राप्त कर सकता है, जो कि विज्ञान का विषय है।ऽ"

कला का यह स्वरूप संकुचित करके रखा है। जब विज्ञान के द्वारा नेत्र संबंधी ज्ञान पूरी तरह से प्राप्त किया जा सकता है तो ठीक शीशे बनने पर नेत्रों का रोग भी दूर हो सकता है। अंधे अक्षर पढ़ते हैं और वे कोई भी काव्य पढ़ सकते हैं। ऐसे रोगियों के लिये कुछ व्याघात तो तब तक पड़ते ही रहेंगे जब तक कि मानव रोगों पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता। विज्ञान प्रकृति का सामूहिक प्रयोग है। कला व्यक्ति वैशिष्ठ्य से जन्म लेती है। विज्ञान बुद्धि के झुकाव से आता है, कला जीवन के अध्ययन से प्रतिभा में जन्मती है।

वास्तव में कला और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान नयी-नयी वस्तुओं का अन्वेषण करता है। मनुष्य उनका प्रयोग करता है। किन्तु कला इससे विज्ञान की दासी नहीं बन जाती। कला का क्षेत्र हृदय है, विज्ञान का क्षेत्र बुद्धि है। भारतीय योगमार्ग ने बुद्धियत्न को जाग्रत करने का प्रयत्न करके यह कहा था कि मरने पर रोओ नहीं, जन्म पर प्रसन्न मत हो। किन्तु मनुष्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सका। उसे जीवन से प्रेम था, सो वह मरने पर रोया और जन्म लेने पर हँसा। उसे अपनी अखण्ड शक्ति का इसीमें प्रश्रय मिला। इसीलिये कला दासी नहीं है। अवश्य ही विज्ञान, कला के रास्ते खोलता है और उसके क्षेत्र की जड़ता को दूर करके उसे मनुष्य के लाभ के

ऽ लिमिटेशन्स आफ साइन्स, जे० डब्ल्यू० एन० सलीवन पृ० १६६

लिये प्रयुक्त करता है। विज्ञान विष ईजाद करके कहता है कि यह विष है इसे पीने से मनुष्य मरता है। पर वह पीने न पीने की सलाह नहीं देता। कला ही कहती है कि इसे मत पियो। आज कला का विज्ञान पर शासन नहीं है, उस पर स्वार्थियों का शासन है, तभी वह बर्बर सा दिखाई देता है। विज्ञान को सौन्दर्य कला ही देती है। कला ही मनुष्य को सुसंस्कृत बनाती है और वैज्ञानिक को भी मनुष्य बनाने वाली शक्ति कला ही है। कला को अपने नये क्षेत्रों में प्रवेश करना है। जीवित मनुष्य को विज्ञान के नये क्षेत्रों में विचरण कराना है, और मनुष्य को विजयी बनाना है। उदाहरणार्थ, हारवर्ड के डा० फ्रेड एल० ह्विपॅल ने अपनी १६४८ में प्रकाशित 'डस्टक्लाउड हाइपोथिसिस' में बताया है कि शून्य में जो कोस्मिक धूल उड़ती है वह मात्रा और घन में इतनी है कि उससे नक्षत्र बन सकते हैं। उसके अनुसार यह धूलिकण एक इंच के पचास हजारवें भाग के बराबर होते हैं। उन्हें तारों के प्रकाश का हल्का दबाव एक दूसरे के समीप करता है, इकट्ठा करता है, जिससे एक बादल सा बन जाता है। जब वह काफी बड़ा हो जाता है तब इस योग्य हो जाता है कि उसका डायमीटर छ ट्रिलियन* मील हो जाता है और उसका घनत्व और आकार अपने अस्तित्व का प्रभाव डालने योग्य हो जाता है। घनाकर्षण उसे संकुचित करता है और उससे उसमें भीतरी दबाव पैदा हो जाता है। तापक्रम बढ़ जाता है। अंततोगत्वा अपनी अन्तिम उस अवस्था में जब कि श्वेत-गर्म हो जाता है तब वह तारे की तरह चमकने लगता है। ऐसा ही प्रारम्भ सूर्य्य और उसके ग्रह उपग्रहों का समझा जाता है। १

यह एक नयी भूमि है, जिसमें हमारी लघुता दूर होती है। यह हमारी विराट सृष्टि में हमारी धरती के छोटेपन को दिखाता है। इससे हम छोटे बनकर भी बौद्धिक रूप से विराट प्रमाणित होते हैं। यह सत्य भी तो मनुष्य ने जाना है। उसकी मेधा की असीमता परिलक्षित होती है। ऐसी अवस्था में कला में ही वह शक्ति है जो कि घबराजाने वाले व्यक्ति की सहायता करके उसे जीवन के प्रति श्रद्धा देती है।

---

*×१०,००००००×१०,०००००० = १० नील = १ट्रिलियन

१. द यूनिवर्स एण्ड डा० आइन्सहाईन. लिंकन बारनट. पृ० ११२-१३

आइन्स्टईन जैसे वैज्ञानिक ने भी इस कलाजन्य श्रद्धा के प्रति अपनी आस्था दिखाई है।

कला अपने सीमित अर्थों में वह रूप धारण करती है, जिसे आज तक के व्याख्याताओं ने दिया है। मूलतः कला वह है जो मनुष्य के भावपक्ष से सम्बन्ध रखती है और सारांश में यही कहा जा सकता है कि विज्ञान जितना असीम होता जाता है, कला भी उतनी असीम होती जाती है। मनुष्य का बुद्धि-पक्ष जितना विकास करता है उसका भावपक्ष भी उतना सशक्त होना चाहता है। यदि दोनों में तारतम्य नहीं होता तो अवश्य ही वह मानव समाज के लिये एक घातक वस्तु है। विज्ञान श्रम है, कला केवल श्रम नहीं। वह श्रम भी है, और आनंद भी। आनंद श्रम में भी है अतः वह विज्ञान में भी है, किन्तु विज्ञान के आनन्द में केवल जिज्ञासा है। कला के आनन्द में तृप्ति है अतः वह श्रम भी है और श्रम को अधिक शक्ति देने वाला विश्राम भी है। इन दोनों का संबंध ही मनुष्य का भविष्यत् कल्याणमय बना सकता है। विज्ञान जीवन का वाह्य बनाता है, कला उसका नियोजन करके, उसके अंतस् को भी ज्योतित करती है।

अन्त में विज्ञान के विषय में एक विषय सामने और आता है। वह है जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध। युगान्तर से कला ने भी इसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है।

जीवन क्या है का उत्तर देते हुए एक वैज्ञानिक कहता है : जॉर्ज बर्नार्डशॉ और प्रोफेसर सी० ई० एम० जोड यह सोचते हैं कि जीवित वस्तुओं में एक जीवनी शक्ति होती है। यद्यपि मुझे इसमें सन्देह है, किन्तु यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाये, तो हम जीवनी शक्ति तो हर पशु और पौधे में भी पा सकते हैं। हमें पदार्थ के रूप में जीवन की व्याख्या करनी होगी। साधारण जीवन में हम जीवित वस्तुओं को उनके रूप और बनावट से ही पहँचान पाते हैं। मृत्यु के कुछ देर बाद यह चीजें नहीं बदलतीं। दूध पिलाने वाले प्राणियों और पक्षियों के विषय में यह निश्चित है कि यदि ये ठंडे पड़ गये हैं, तो वे मर गये हैं। किन्तु यह प्रयोग मेंढक आदि पर नहीं चल सकता। उनकी मृत्यु हमें तब पता चलती है कि जब ये छूने पर भी हिलते नहीं। पौधों के बारे में यह तभी पता चल सकता है जब हम देखें कि वे बढ़ते भी हैं या नहीं और

इसमें काफ़ी महीनों की देखरेख की आवश्यकता पड़ती है। इन सब प्रयोगों की एक बात आम है कि हम किसी प्रकार की गति या परिवर्त्तन को जीवन चिह्न मानते हैं। ऊष्मा तो अणुओं की वह गति है जो एक सी नहीं रहती। १

विज्ञान अभी जीवन का रहस्य नहीं ढूंढ़ पाया है। किन्तु वैज्ञानिकों को आशा है कि वे जीवन भी ढूंढ़ सकेंगे। हम यदि अविश्वास करें तो भी विज्ञान तो अपना काम करता ही रहेगा। कला के लिये तो यह एक और भी आनन्द का विषय है कि वह जीवन और मृत्यु के नये पहलुओं को समझे और मानव को उसके सहाय से नया मार्ग दिखाये।

निस्संदेह जिसे जीवन और मृत्यु के नाम देकर प्राचीन लोग विचित्र विश्वास करते थे, वे सब विश्वास अब धीरे-धीरे परिवर्त्तित होते जा रहे हैं। अभी तक की कला जिस विज्ञान के सहारे खड़ी थी, वह विज्ञान पुराना था। उससे जो धारणाएं बनी थीं उसके आधार पर कला ने अपना विकास किया था। किन्तु इस शताब्दी में सहसा ही विज्ञान ने वामनरूप छोड़कर 'त्रेधानिवधे पदम' का रूप धारण कर लिया। अब कला को नये आधार प्राप्त हुए हैं। उसे भी अपना विकास करना होगा। यह परिवर्त्तन की चाह दासत्व नहीं। यह कला का व्यापकत्व ग्रहण करता है। वस्तु जगत की परिस्थिति पर कला कब आधारित नहीं रही। वह अब भी आधारित है। किन्तु विज्ञान का शोध आज नया है, कल पुराना है। कला पुरानी नहीं पड़ती। उसका मनुष्य के भाव से सम्बन्ध है अतः वह कल भी मनुष्य की तृप्ति करती है। कला के माध्यम में जीवित मनुष्य अवतरित होता है, और वह अपने समस्त सत्य, शिव और सुन्दर को युग सीमा में उतार कर आगे के युगों तक का मार्ग खोल देता है। एक विचारक ने इससे असहमत होकर कहा है: "स्पिनोज़ा ने मनुष्य को प्रकृति से एक करके माना था, किन्तु वहाँ गत्यात्मकता का अभाव था, उससे आगे की राह को प्रदर्शन नहीं मिला। गेटे ने यही किया, किन्तु उसका भी अनुसरण नहीं हो सका। क्योंकि वह व्याख्यात्मक विज्ञान के विरुद्ध पड़ता था। हेगेल ने स्वतन्त्रता को आवश्यकता की स्वीकृति कहा। मार्क्स ने इस विचार को अपने इतिहास के दृष्टिकोण का एक मूल बनाकर बढ़ाया। किन्तु यूरोपीय

१. व्हाट इज़ लाइफ़: जे० बी० एस० हैल्डेन पृ० ५६

मस्तिष्क ने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि प्रकृति का निरन्तर विकसित होने वाला रूप नियम में बँधा था, जब कि उसे अपने विचारों का विकास उसके अनुकूल चलता हुआ नहीं दिखाई दे रहा था। एशिया में बिरादरी का जीवन था। व्यक्ति वहाँ यूरोप की भांति व्यक्तिवादी नहीं हुआ था। तभी रूस ने मार्क्सवाद को स्वीकार कर लिया। १"

विचारक ने सामूहिक जीवन को विशेष संस्कृतियों से जोड़ा है जब कि उसका सम्बन्ध समाज की व्यवस्थाओं से है। इतिहास का विद्यार्थी जानता है कि क्रान्ति या विचार परिवर्त्तन सदैव परिस्थितियों पर आश्रित होता है। यदि यूरोप को शोषण करने की सुविधा नहीं मिलती, तो संभवतः यूरोप का विकास दूसरे ढंग का ही होता। यह कहना कि भारतीय चिन्तन व्यक्तिवाद में पिछड़ा हुआ है, ग़लत है। यूरोप में प्रकृति का नियम बद्ध होना और व्यक्ति के विचारों का अनियमित होना ही असंगत है। दोनों में तारतम्य तब भी था और अब भी है। यूरोप में जिस विचार विकास ने वैयक्तिकता की राह ढूंढी वह उसकी सामाजिक विषमता के परिणाम स्वरूप ही जन्मी थी, जिसे हम यूरोप के साहित्य में देख चुके हैं। रूस ने मार्क्सवाद को अपनी विषम परिस्थितियों के कारण स्वीकार किया। मार्क्सवाद का जो व्यवहारिक रूप रूस ने लिया वह मार्क्स के उपरान्त लेनिन ने अपने देश की परिस्थिति के अनुकूल बनाया था। बिरादरी का जीवन होने पर भी चीन ने मार्क्सवाद को व्यवहार में वैसे ही स्वीकृत नहीं कर लिया, जैसा कि रूस ने किया था। उसने उसे अपने देश की परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्त्तित किया और तब ही अपने यहाँ स्वीकृत किया। भारत में उसका व्यावहारिक रूप में तभी अमल हो सकता है जब वह भारत की परिस्थितियों के अनुकूल अपने को परिवर्त्तित करले।

६] मैं ऊपर कह चुका हूँ कि प्रगति प्रत्येक युग में होती है। हमारा ज्ञान सापेक्ष है। ज्ञान संकुचित ही है क्योंकि उसके आगे जानने योग्य बहुत कुछ पड़ा है। जब हम समझते हैं कि जानने योग्य सब जाना जा चुका है तब उसे ह्रास का ही चिह्न समझना चाहिये। इसी भावना ने कलि की भावना को

---

१. द नेक्स्ट डेवलेपमेंट इन मैन. एल० एल० व्हाइट १९५० पृ० २१९-२०

जन्म दिया था और आधुनिक कवि ने इसीलिये धर्म को चुनौती दी है जिसकी कि ऐसी भावना आड़ लेकर जीवित रहती है :

मेरे धर्म, मुझे अब तुम उदार होने दो
निखिल विश्व में मिलकर अपना पन खोने दो
खाने दो मुझको अछूत के साथ बैठकर
जाने दो मुझको मुसलिम के घर के भीतर
पीने दो मुझे इसाई घर का पानी
सुनने दो अतन्द्र हो जग में सबकी वाणी,
मैं न चाहता 'नीच' किसी को जग में कहना
हो सबके समान, सबका भाई कहला कर
मैं इच्छुक हूँ अब बढ़ने का जीवन पथ पर
तुम महान ये मेरे धर्म एक दिन तुमने
सहे सभी आघात दुखों के दृढता से
लाँघ गगन-स्पर्शी-गिरि, जल का वक्ष चीरकर…
(चँद्र कुँवर बत्वील)

धर्म ने एक समय अपनी युग सीमाओं में मनुष्य को मनुष्यत्व सिखाया था, कवि ने अपनी व्यापक दृष्टि से उसे पहँचाना है।

आज हमारा काव्य और साहित्य तथा कलाएं तभी जीवित रह सकते हैं जब कि वे इसी नयी परिस्थिति में भी पराजित नहीं हों और मनुष्य को सब पर विजयी स्थापित करें। मनुष्य यद्यपि अपने को व्यक्ति रूप में अलग सोचता है, किन्तु वह वस्तुतः समूह का अङ्ग है। वह अपने को अलग नहीं कह सकता।

मनुष्य जाति की इतिहास में जो अथक लम्बी यात्रा है वह इस सृष्टि में अपना एक यूनिट बना सकती है। उस यात्रा के बिन्दु मानव-व्यक्ति उस धारा में बहने वाले लोग हैं। वे कभी भी व्यक्ति रूप में ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त करलें यह असम्भव है। आज जो कुछ हम जानते हैं, वह मेरे या तेरे के ही संचय-फल नहीं हैं, वे तो शताब्दियों और सहस्राब्दियों में यात्रा करने वाली मानव जाति के अभी तक के संचित ज्ञान के फल हैं। हमारे बाद आने वालों

को कितना और ज्ञान प्राप्त होगा इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। किंतु अपनी पिछली पीढ़ियों के आगे होने के कारण अधिक जानकारी होने के कारण हमें गर्व करने की कोई आवश्यकता नहीं है, न इसलिये बैठकर खेद करने की आवश्यकता है कि हाय हम वे सब बातें नहीं जान सके जो कि अगली पीढ़ियाँ जान सकेंगी। यह ताँता तो यों ही चलता रहेगा। यदि हम नहीं भी चाहें तब भी यह क्रम तो चलता ही रहेगा। एक बार को यदि हम दर्शन की कल्पनाओं के आधार पर यह मान भी बैठें कि हम सब जानते हैं, आगे कुछ नहीं है, तो भी क्या उससे समस्या का हल हो जाता है? वह तो मनुष्य है जो निरंतर प्रगति करेगा, जब तक कि हठात् किसी कारण से इस मनुष्य जाति का या इस धरती का ही विनाश नहीं हो जाये।

"द्वन्द्वात्मक विवेचन बताता है कि जीवन को हमें वैसे ही लेना चाहिये जैसा कि वह है। हमने देखा है कि जीवन निरन्तर गतिमय है, अतएव, हमें जीवन को उसकी गत्यात्मकता के साथ देखना चाहिये और पूछना चाहिये कि जीवन किधर जा रहा है? हमने देखा है कि जीवन निरन्तर ध्वंस और सृजन का चित्र प्रस्तुत करता है, अतएव हमें जीवन को उसके ध्वंस और सृजन के साथ देखना चाहिये और पूछना चाहिये : जीवन में क्या ध्वस्त हो रहा है और किसका निर्माण हो रहा है?

जीवन में जो जन्म ले रहा है और दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है वह अभेद्य है, उसकी प्रगति रोकी नहीं जा सकती। अर्थात् उदाहरणार्थ, सर्वहारा एक वर्ग के रूप में जन्म ले रहा है और दिन-ब-दिन बढ़ रहा है, इससे कोई मतलब नहीं कि आज वह कमज़ोर है और संख्या में कम है, किन्तु अन्ततोगत्वा उसकी विजय निश्चित् है। क्यों? क्योंकि वह बढ़ रहा है, शक्ति एकत्र कर रहा है और आगे बढ़ रहा है।"[१]

स्तालिन की यह सामाजिक शक्ति की व्याख्या इसी के आधार पर आश्रित है।

दुख में मनुष्य एक सान्त्वना चाहता है और वहाँ ईश्वर की याद आती है। उससे प्रार्थना करके सहारा मिलता है। जब कोई प्रचण्ड दैवी आक्रमण

१. अनार्किज़्म और सोशलिज़्म, जे० स्तालिन, मॉस्को १९५०, पृ० १४.

(प्राकृतिक) होता है तब भी परमात्मा ही रक्षक दिखाई देता है। इसका सीधा सा उत्तर है कि जहाँ मनुष्य को अज्ञान और उसकी असमर्थता का प्रारंभ होता है वहाँ वह एक विराट सान्निध्य खोजने लगता है। वह मानता है कि वह सृष्टि के रहस्य को तो खोज नहीं पाया है, और असमर्थ है, पर इससे ऊपर भी तो कोई है जो कि रक्षक है, तो उससे प्रार्थना क्यों न की जाये? ठीक है। किन्तु यह सबसे बड़ा सत्य है कि उसका ईश्वर भी उसकी आवश्यताओं से, उसकी युग परिस्थितियों और उसके ज्ञान के स्तर के अनुरूप, उसकी कल्पना की व्यापकता के आधार पर बनता है। प्रत्येक युग में उसने ऐसे महान रूप का सृजन करके उससे अपना वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। समुदायों की कल्पना में भेद भी रहा है जिसने सांस्कृतिक भेद को लेकर संसार में झगड़े भी कराये हैं।

मनुष्य की कल्पना ऐसी व्यापक नहीं है कि वह अपनी कल्पना से ही सृष्टि की विराट सत्ता को बैठे-बैठे सोचले। मनुष्य सामूहिक जीवन में ज्ञान प्राप्त करता है और उसके 'व्यक्ति' को वेदना तब ही अधिक होती है जब समूह से उसका द्वन्द्व बढ़ता चला जाता है। द्वन्द्व जितना ही कम होता है उतना ही उसका दुख प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न किये हुए दुखों पर केन्द्रित होता जाता है।

८] कहते हैं भारतीय योगमार्ग में व्यक्ति अपने उपचेतन को जाग्रत करके ऐसी शक्ति प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है कि वह साधारण व्यक्ति की तुलना में अधिक जान सकता है। स्वामी विवेकानन्द के विषय में यह कहा जाता है कि उन्हें पानी पर चलने वाला साधू मिला था। परन्तु स्वामी विवेकानन्द भारतीयों को योग के स्थान पर फुटबाल खेलकर तन्दुरुस्ती बनाने का उपदेश देते थे।

योगमार्ग की कुछ चमत्कारपूर्ण घटनाएँ सुनाई देती है, कुछ मेरी देखी भी हैं, किंतु ऐसी कोई नहीं है कि व्यक्ति उड़कर चंद्रमा पर चला जाये या गङ्गा पर बाँध बना डाले। पुरानी पौराणिक कथाओं में जो कहानियाँ हैं वे भारत के ही विषय में ही नहीं हैं, वैसी रूपक कथाएं तो संसार की सभी आदिम जातियों में मिलती हैं।

भारतीय योगमार्ग का विकास तो उसी समाज में उचित हो सकता है, जहाँ समाज सुखी हो। योगमार्ग से भाग्यवाद का मिलना, सामंतीय व्यवस्था का ही योगमार्ग पर प्रभाव है। योगमार्ग में तो उपचेतन मस्तिष्क पर शासन करना है। उसके पीछे, संप्रदायों में प्रकराँतर से हमें विभिन्न प्रकार के सामंतीय युग के दर्शन ही मिलते हैं। सबसे अधिक योगमार्ग को वेदान्त ने प्रभावित किया। वेदान्त का शंकराचार्य्य द्वारा प्रतिपादित स्वरूप धीरे-धीरे उपनिषदों से विकास करके आया था। वेदांत के मूल में आत्मा की समानता थी, वेदान्त की सामंतीय परिणित में यह संसार ही झूँठा हो गया। योग पर उसका प्रभाव पड़ा। अपनी असमर्थता से ही योग भी वैयक्तिक ही रह सका है। लेनिन आदि योग के इस वैयक्तिक रूप का विरोध करते थे। कृष्ण के साथ भी कर्म योग को श्रेष्ठ कहा गया है जिसका मूल यही है कि अपनी व्यवस्था की विषमताओं से पराजित न हो और संसार को छोड़कर भागो नहीं।

समाज से दूर होने में व्यक्ति का कोई पूर्णत्व नहीं है। पूर्णत्व तो तब माना गया है जब पहले व्यक्ति संतान का पिता हो। और अपने परवर्त्ती रूप में योग स्त्रीनिंदा पर आश्रित था।

भारतीय साहित्य ने उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है। इसके मूल में हमें समाज से भागे हुए व्यक्ति नहीं मिलते। वे जीवन संग्राम में ही खेलते हैं। योगी भी इसी धरती पर आते हैं और यहाँ के सुख दुख में भाग लेते हैं।

काव्य साहित्य के क्षेत्र में यों तो योगियों को काव्यास्वादन करने के योग्य ही नहीं माना गया है।

समाज की विषमताओं को सुलझाने के प्रयत्न में असफल होकर ही आज तक कवियों में से कुछ ने योग-जीवन को आदर्श बनाया, जिनमें अन्तिम 'प्रसाद' थे जिन्होंने कामायनी के अन्त में मनु को हिमालय पर दूर भेज दिया है और -आनन्द' की भी 'समरसता' बताई है जब कि रामायण और महाभारत के नायकों का अन्त दुख पूर्ण है और स्पष्ट ही रूपकों का आधार लिया गया है।

प्राचीन काल से ही समझ में न आने वाले प्रकृति के रहस्यों की आड़ में शोषकवर्गों ने अपने दर्शनों को बचाने का प्रयत्न किया है। शोषित और

शोषक वर्ग दोनों ही उन रहस्यों के प्रति समान रूप से अज्ञानी थे । समाज की विषमता को न समझने के कारण शोषक और शोषित दोनों ने ही उस आड़ को स्वीकार भी किया था, किन्तु नये युग में इसका दृष्टिकोण बदल गया है। प्रकृति के रहस्य को अब समाज की विषमता से अलग कर दिया गया है। प्रकृति का रहस्य अलग है और समाज की विषमता अलग है ।

"साम्यवाद में, जहाँ जनता के लिये आदर्शवादी, (अर्थात् विचार संबंधी) सैद्धान्तिक, सांस्कृतिक शिक्षा साम्यवादी राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाता है, साहित्य और कला राज्य के कोई गुप्त नहीं, वरन् प्रमुख और जन सम्बन्धी विषय समझे जाते हैं। कला और साहित्य ने सदैव ही राजनैतिक उद्देश्यों का प्रसार किया है, किन्तु बुर्जुआ समाज में बुर्जुआ सैद्धान्तिक इसे बड़े ढोंग से छिपाते हैं। स्वरूपवाद, जो कि कला को अराजनैतिक कहता है, उसका भी बुर्जुआ समाज में राजनैतिक महत्त्व है, क्योंकि आवश्यक राजनैतिक समस्याओं से जनता का ध्यान बँटाना उसका काम है।"[१]

भारतीय योग मार्ग की भी आड़ लेकर भारत में दर्शन बने हैं, और समाज की व्यवस्था की वैयक्तिक धाराओं पर स्थापित व्याख्या भी की गई है।

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त जब सामंतीय जीवन में पूर्ण गतिरोध आ गया था और उसमें कोई नवीनता शेष नहीं रही थी तब योगमार्ग ने अपना सबसे बड़ा प्रभाव डाला था। उच्चवर्गों ने इसके आधार पर भाग्यवाद को दृढ़ करके संसार को माया कहा था, और निम्न वर्गों ने इसके ही आधार को लेकर जातिव्यवस्था की विभीषिका को तोड़ने का प्रयत्न किया था। किंतु योगमार्ग समाज की विषमता को नहीं हटा सका, क्योंकि वह तो उत्पादन के साधनों और वितरण की व्यवस्था पर निर्धारित थी। योग ने बहुत सी रूढ़ियों को तोड़ा, परन्तु नयी चीज उनके स्थान पर नहीं दे सका। कालांतर में वे सब विद्रोह भी शमित हो गये और जिस नेतृत्व ने उन्हें चलाया था वह नेतृत्व

१. द रोल आफ सोशिलिस्ट कोनशेसनेस इन द डेवलपमेन्ट आफ सोवियत सोसायटी मॉस्को १६५० एफ० ई० कोन्सटैनटिनोफ पृ० ८६-८७

भी मंदिरों और मठों में संपत्ति प्राप्त करके अन्य पुरोहित वर्गों की भांति हो गया। कबीर पंथ का तो अन्त ही इस प्रकार हुआ, जब कि परवर्ती कबीर पंथियों ने अपने को वेद से जोड़ने की चेष्टा की थी।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि योगमार्ग भी समाज व्यवस्था से निरपेक्ष नहीं रहा है। उसने उच्चवर्गीय राजाओं को भी मोह कर गद्दी से हटा के साधू बनाया था। इसका कारण यही था कि उस समाज में इतनी अगति थी कि व्यक्ति कहीं भी प्रसन्न नहीं था।

वर्ग गत जीवन में शोषक और शोषित परस्पर अपने स्वार्थों के लिये संघर्ष करते हुए भी कभी भी व्यक्तिरूप से कोई भी सच्चा संतोष नहीं पाता। वह तो तब ही मिल सकता है जब संसार में से विषमता का अन्त ही हो जाये।

६] व्यक्ति और समाज का विवेचन करते समय हम उनका अन्योन्याश्रय दिखा चुके हैं। भाव जगत किस प्रकार वस्तु भगत से उद्भूत होता है उसकी ओर भी इंगित किया जा चुका है। संसार के महापुरुषों को भी हम उनके वातावरण से अलग करके नहीं देख सकते। भारतीय संत परम्परा का अध्ययन करते समय मैंने यह स्पष्ट कर दिया था कि व्यक्ति को उसके समाज के साथ देखने पर ही उसका महत्त्व प्रगट होता है। १ आज तक के विवेचनों में यही दोष रहा है कि उन्होंने महापुरुषों को उनकी मृत्यु के बाद युग निरपेक्ष करके प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह दिखाया कि व्यक्ति ने किस प्रतिभा या मेधा से संसार में बड़े-बड़े काम किये। किन्तु उन्होंने उन विचारधाराओं और परिस्थितियों को नहीं दिखाया जिनका भी चरित्र निर्माण में उतना ही उत्तर-दायित्व था। यह दोष हमें प्राचीन साहित्यों में भी मिलता है। उन्होंने अपने 'नायक' को पूर्वाग्रह से, या देवताओं की कृपा का पात्र बनाकर उसके मानवीय ओज को घटाने का प्रयत्न किया है। बाल्मीकि के राम में इसीलिये तुलसी के राम से अधिक शक्ति प्रतीत होती है कि बाल्मीकि के राम मनुष्यत्व के अधिक निकट हैं, जब कि तुलसी के राम ईश्वरत्व के। भाव जगत में उनकी समान सुख-दुख की प्रवृत्ति दिखाकर ही वे उन्हें खेकर ले जा सकते हैं। यही कारण

१. देखिये—भारतीय चिंतन—ले० रांगेयराघव।

है कि भारत में ब्राह्मणों के बनाये पुराण अपने चरित्रों के साथ अधिक जीवित रह सके। इनके पात्र मूलतः मनुष्यों की भाँति हैं। जैन और बौद्ध पुराणों के नायक सहज मानव नहीं हैं अतः वे उतने प्रभावशाली भी नहीं बन पाये हैं।

महापुरुषों का जीवन उदात्त भावनाओं को जगाता है और इसीलिये उसका सदैव ही अक्षय मूल्य है। समाजवादी दृष्टिकोणवाले जब कुत्सित समाज शास्त्री विवेक से काम करते हैं तब ही वे यांत्रिकता से काम लेते हैं। किन्तु जब समाजवादी दृष्टिकोण समाज विकास के सिद्धान्त को लागू करता है तब वह अन्य सिद्धान्तों की भाँति नहीं होता। समाज का विकास तो इतिहास की गति है और मानव का तारतम्य उपस्थित करता है। वह व्यक्ति और समाज दोनों का समान रूप से सम्मान करता है। वह अतीत को अपमानित करने का दृष्टिकोण नहीं रखता। वह अतीत से स्वयं सीखना चाहता है।

१०] मार्क्सवाद सृष्टि के रहस्य की ओर विज्ञान के माध्यम से ही आकर्षित होता है।

वह प्रतीक्षा करता है कि विज्ञान अपनी सुव्यवस्थित क्रियाओं से सृष्टि के रहस्य को खोजे।

सृष्टि के रहस्य भौतिक जगत की व्याख्या में ही निहित हैं और भौतिक जगत की अधिकाधिक खोज ही उस रहस्यात्मकता को अधिक से अधिक दूर करती है।

प्राचीन काल में विज्ञान का यह मार्ग प्राप्त नहीं था। तब मानव दूसरा पक्ष पकड़ता था।

प्राचीन काल के साहित्य की रहस्यानुभूति का भविष्य में भी ऐतिहासिक मूल्य अवश्य रहेगा, किन्तु वह उससे अधिक नहीं होगा। रहस्यात्मक दृष्टिकोण ने जहाँ सौन्दर्य का आधार लिया है, वहाँ भाव से सम्बन्ध स्थापित कर लेने के कारण उसमें एक स्थायित्व आया है जो कि अब भी अपना प्रभाव डालता है। मनुष्य की उन अभिव्यक्तियों का मूल्य इसीलिये है कि अपनी विशेष सीमाओं में उसने किस प्रकार सृष्टि के व्यापकत्व को पहँचानने का प्रयत्न किया था।

भविष्य में उपचेतन मस्तिष्क का गहरा अध्ययन अवश्य फिर इस प्रकार

की रहस्यात्मकता को जन्म दे सकता है, किंतु उसका रूप कितने अंश तक वैयक्तिक होगा यह नहीं कहा जा सकता। अधिकाधिक तो यही सम्भव है कि वह व्यष्टिपरक न होकर, समष्टिपरक होगा। उस अवस्था में उसे रहस्यात्मक न कहकर, मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने वाला कहना अधिक उचित होगा।

हमारी सामाजिक व्यवस्था में भाव जगत में बहुत सी गुत्थियां पड़ जातीं हैं, और वे मन में रह जाती हैं। जब वे गुत्थियाँ स्वस्थ जीवन में धीरे-धीरे खुलेगीं तो मनुष्य के आनन्द की अपरिसीम शक्ति उसके काव्य और साहित्य में भी उमँगने लगेगी।

११] यह सत्य है कि रहस्यवाद का हमारे साहित्य में बहुत प्रभाव है। रहस्यवाद ने निम्नलिखित रूप धारण किये हैं—

अ] रहस्यवाद ने अपनी युग सीमा में प्रचलित उच्च वर्गीय रूढ़ियों को तोड़ा है।

आ] उसने समाज को लकीर का फकीर बने रहने से जगाने का यत्न किया है।

इ] उसने स्पष्ट न कह सकने पर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का भी प्रश्रय ग्रहण किया है।

ई] उसने एक से अधिक समय पर यह कहा है कि मनुष्य जिसे शाश्वत समझकर अपना सत्य मानता है, वह सत्य ही सब कुछ नहीं है और इस प्रकार उसने स्थापित विषमताओं की मर्यादा को तोड़ा है।

उ] उसने जातियों का विद्वेष मिटाया है। संस्कृतियों के अलगाव को दूर करने की चेष्टा की है।

ऊ] उसने काव्य को नये उपमान दिये हैं, काव्य का रूप धनी बनाया है और अपने से व्यापक की ओर देखने की प्रेरणा दी है।

ए] उसने विद्रोह का स्वर दिया है, जिसके द्वारा जीवन ने निराशा में भी संबल ग्रहण किया है और अपनी अभावात्मकता की कचोट को दूर करने में सफलता पाई है।

किन्तु उसका फल यह भी रहा है कि—

अ] उसने ठोस आधार स्थापित व्यवस्था के स्थान पर कभी नहीं दिया और इस प्रकार पलायनवाद की ओर भी प्रेरित किया है।

आ] विषम व्यवस्था के उच्च वर्गीय लेखकों ने उसकी आड़ में जीवन के वास्तविक सौन्दर्य को झुँठाने की भी चेष्टा की है।

इ] जिन कल्पनाओं से उसने व्यापकता का आभास दिया है, उन्हीं कल्पनाओं को आगे चलकर रूढ़ बनाया गया है और उनसे एक और अन्धविश्वास ने जन्म लिया है।

ई] नये उपमानों की अति ने अन्ततोगत्वा जाकर चमत्कारवाद और उलटबाँसियों में काव्य की वास्तविक शक्ति को गँवाया है।

इन दोनों पक्ष प्रतिपक्ष में रहस्यवादी अभिव्यक्ति का उद्गम निम्नलिखित परिस्थितियों में होता है—

अ] समाज की रूढ़िवादिता कठोर हो।

आ] व्यक्ति असंतुष्ट हो।

इ] मेधा को स्पष्ट चिंतन का अधिकार नहीं हो।

यदि आज का युग इसी परिस्थिति को फिर-फिर जन्म देगा तो मनुष्य निस्सन्देह रहस्यवादी दृष्टिकोण को अपनाने की चेष्टा किया करेगा।

१२] रूस और चीन ने जिस नये साहित्य की सृष्टि की है वह अपनी विषय वस्तु में नया है क्योंकि वह जनवादी साहित्य है और उसके ध्येय यों हैं-

अ] जनता का जीवन चित्रित करना।

आ] जनता का हित ही अपना लक्ष्य बनाना।

इ] स्वस्थ दृष्टिकोण देकर वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता को जन्म देना।

ई] मनुष्य के व्यक्तित्व के 'अहं' के स्थान पर 'सर्व' को स्थापित करना।

उ] समाज और व्यक्ति का अन्योन्याश्रय देखना।

ऊ] वर्ग संघर्ष के माध्यम से जीवन का यथार्थ चित्रित करना और वर्ग-हीन समाज की रचना में निरत होना।

ए] वर्गीय जीवन की निराशा आदि कुत्सित प्रवृत्तियों को दूर करके मनुष्य को उदात्त बनाना।

सारे आदर्श अच्छे हैं, श्रेष्ठ हैं। फिर भी तीन कारणों से वहाँ अभाव रह गये हैं—

अ] जीवन का सांगोपांग चित्रण न करना।

आ] केवल राजनीतिक परिस्थिति को ही सर्वस्व बना देना।

इ] पात्रों को लेखक द्वारा गढ़ने की चेष्टा करना, आदर्श के लिये उसकी काँट-छाँट करना।

इन तीनों अभावों ने उसको वह शक्ति नहीं दी जो कि उससे अपेक्षित थी। एँगिल्स ने कहा है कि जब वितरण और उत्पादन के साधनों में अन्तर्विरोध जन्म लेता है तब प्रारम्भ में शोषकवर्ग का ध्यान उस पर जाता है, शोषित का बाद में, क्योंकि शोषक उसे पहले समझ लेता है। जब शोषकों में से नेतृत्व होता है कि विरोध हटे तब शोषित नहीं समझ पाते। धीरे-धीरे जब अन्तर्विरोध बहुत स्पष्ट हो जाता है तब ही वह जनता में अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है।[१] इतिहास एँगिल्स के इस कथन की पुष्टि करता है। साम्य-

[१]The connection between distribution and the material conditions of existence of society at each period is so much a matter of course that it is always rejected in popular instinct so long as a mode of production is still in the rising stage of its development, it is enthusiastically welcomed even by those who come off worst from its corresponding mode of distribution. ××so long as this mode of production remains normal for society, there is general contentment with the distribution and if objections to it begin to be raised, these come from within the ruling class itself (Saint Simon, Fourier Owen) and at first find no responce among the exploited masses. Only when the mode of production in question has already a good part of its declining place behind it, when it has half outlived its day, when the conditions of its existence have to a large extent disappeared, and its successor is already knocking at the door—it is only at this stage that the con-

वादी यथार्थ लाने वाले लोग वे हैं जिन्होंने पहले शोषकवर्ग में स्वर उठाया (जैसे जन्मानुसार मार्क्स और एंगिल्स थे) और बाद में शोषितवर्ग में स्वर उठाया (जैसे टुटपूँजिया वर्ग का लेनिन और सर्वहारा का स्तालिन था) यह पुकार रूस में थी, फिर चीन में गई और १९४८ ई० से १९५१ ई० तक भारत में भी बहुत उठी। भारत में तो खैर यह बदल गई। परन्तु रूस और चीन साम्यवादी देश हैं, और वहाँ इसकी आवश्यकता भी थी। किन्तु आज भी वहाँ कोई महान रचना जन्म नहीं ले सकी है, यह निर्विवाद है। क्रान्ति के पहले रूस ने जो महान कलाकार दिये, वैसे कलाकार वह क्रान्ति के बाद अभी नहीं दे सका है। किन्तु महान कलाकार बाकी के देश ही हर दशाब्द में कब दे सके हैं। प्रतिभा व्यवस्था से प्रभावित अवश्य होती है, किन्तु व्यवस्था के लिये आवश्यक नहीं है कि वह महान प्रतिभा को जन्म दे ही देगी। प्रतिभा वर्ग पर निर्भर नहीं, वह जहाँ चाहे जन्म ले सकती है। व्यवस्था तो केवल इतना करती है कि साधन हर एक को मिल जायें, जिसमें प्रतिभा हो वह चमक उठे। ऐसा न हो कि साधन के अभाव में प्रतिभा ही नष्ट हो जाये। वर्गीय विश्लेषण तो केवल उस व्यवस्था को बनाता है, जहाँ प्रतिभा के पूर्ण विकास के साधन उपलब्ध होते हैं। साम्यवादी यथार्थ तब तक ही साहित्य का भविष्य है, जब तक अन्यत्र वर्गवादी साहित्य का सृजन होता है। व्यक्ति की मौलिकता योजनावाद में तब नष्ट होती है, जब कलाकार के ऊपर राजनीतिज्ञ को रखा जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त वस्तु या व्यक्ति को* अकेला करके नहीं देखता। उसे उसके सापेक्ष वातावरण में रखकर देखता है। वह व्यक्ति को

---

stantly increasing inequality of distribution appears as uujust, it is only then that appeal is made from the facts which have had their day to so-called eternal justice.

(Pruti Duhring. F. Engels. Moscow 1947. pp. 223.)

* On theory to metaphysics, dialectics does not regard nature as an accidental ageoneration of things

निरंकुश नहीं मानता। किन्तु साथ ही कुछ बातों पर ध्यान जाना आवश्यक भी है।

रूस में आलोचकों में सर्व श्रेष्ठ कौन है ? लेनिन या स्तालिन। चीन में लेखकों का बुद्धि निर्माता कौन है ? माओत्सेतुङ्ग। लेनिन, स्तालिन और माओ जनप्रिय नेता थे या हैं, वे मार्क्सवाद को खूब जानते हैं, और क्योंकि वे नेता बने इसलिये यह माना जाने लगा कि वे ही मार्क्सवाद के सर्व श्रेष्ठ व्याख्याता हुए या हैं। किन्तु वे ही कलाकर की प्रतिभा का आलोचक के रूप में मूल्याङ्कन कर सकें, यह समझ में नहीं आता। कोई भी राजनैतिक नेता वह गहराई नहीं पा सकता जो कि कलाकार में होती है। लेनिन, स्तालिन और माओ बुद्धिमान होने पर भी मौलिक विचारक नहीं, मार्क्स के व्याख्याता हैं। स्वयं मार्क्स जो दार्शनिक था, वह भी कलाकार नहीं बन सका। हम लोगों में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि ये साहित्य के भी स्वामी बन जायें। किसी युग के शासक यदि कलाकार के स्वामी बन जाएँ, कलाकार उनके सामने बैठकर भाषाण सुनकर उन्हें रटें, इससे बढ़कर कलाकार का कोई अपमान नहीं। अपने यहाँ के कांग्रेसी नेता भी कभी कभी कविता पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखते हैं। चलती का नाम गाड़ी है, और मैं क्या, इसे देखकर एक दिन कबीरदास को भी रोना पड़ा था। मार्क्सवाद का ज्ञान, और नेतृत्व की क्षमता क्या यही दोनों कलाके लिये काफी हैं ? यह बौद्धिक दासता ही होगी जो इन्हें मान सकेगी। राजनीतिक नेताओं के नाम पर रूस में साहित्य पुरस्कार देना भी इसी दासता का पर्याप्त है। व्यक्ति को इतना 'वीर' बनाना पिछुड़ी हुई मनोवृत्ति का वैयक्तिक रूप है, सामाजिक नहीं।

---

of phenomena, unconnecected with, isolated from, and in dependent of each other, but as a connected and integral whole,in which things, phenomena are organically connected with dependent on, and determined by, each other.

(Dialectical & Historical materealism J. Stalin Moscow 1952. pp. 8.

चीन में यद्यपि इतना अधिक अंकुश नहीं है फिर भी वहाँ 'राजनीतिज्ञ' 'लेखक' पर हावी है।

"...हमारा साहित्य जनता के लिये लिखा जाता है। × × जो कुछ भी जनता के लिये है वह आवश्यक रूप से प्रोत्लारी के नेतृत्व में होना चाहिए। जो कुछ बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व के अन्तर्गत है वह जनता के लिये नहीं हो सकता। × × हम पुराने रूपों को लेने से अस्वीकार नहीं करते जो कि सामन्त और बुर्जुआ वर्ग के द्वारा प्रयुक्त होते थे, लेकिन एक बार जब हम उन्हें ले लेते हैं, हम उन्हें बदलते हैं, नया रूप देते हैं, और नया विषय उनमें भरते हैं, और इस प्रकार वे क्रांतिकारी हो जाते हैं और जनता की सेवा करते हैं।

जनता कौन है? हमारी जनता के ९० फी सदी से ज्यादा लोग मजदूर, किसान, सिपाही और टुटपूँजिया वर्ग के लोग हैं। अतः, पहले मजदूर वर्ग की सेवा करनी चाहिये जो कि क्रान्ति का अग्रदल है, बाद में किसान वर्ग की, जो कि मजदूर वर्ग का सबसे बड़ा और दृढ़ सहायक है, तीसरे मजदूर किसानों की सेना की—ऐथ रूट और न्यू फोर्थ सेनाओं की तथा अन्य जन सेनाओं की—जो हमारी लड़ाकू शक्ति के मुख्य दल हैं, चौथे, टुटपूँजिया वर्ग की, जो भी क्रान्ति का साथी है और हमारे लम्बे समय के प्रोग्राम में हमारा सहायक हो सकता है। यह चीनी जनता है।८"

जहाँ तक राजनीतिक विषय का सम्बन्ध है, इससे विरोध करने की आवश्यकता नहीं दिखाई देती, क्योंकि यह साहित्य का जनता के संघर्ष से सम्बन्ध जोड़ने की राय देने वाला विचार है। किंतु आगे हमें ऐसे विचार भी माओ में मिलते हैं जो न केवल मार्क्सवादी दृष्टिकोण से गलत हैं, वरन् साधारण काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी अनर्गल हैं। किंतु माओ एक देश का नेता है, जन प्रिय है, मार्क्सवादी है, अतः उसे एक श्रेष्ठ आलोचक भी माना जाता है। यह समझ में नहीं आता कि जन प्रिय राजनीतिक नेता और मार्क्सवादी के एक में मिल जाने से ज्ञान विज्ञान के हर पहलू पर आखिरी राय देने की काबलियत किस प्रकार एक ही व्यक्ति में मान ली जा सकती है। वैसे यह बुखार राजनीतिज्ञों को होता ही है। भारत में भी नेताओं के चरण चुम्बी लेखक

८ प्रोब्लेम्स आफ आर्ट एण्ड लिटरेचर, माउत्सेतुङ्ग पृ० ११–१२

अपनी रचनाएँ पास कराया करते थे और हैं और रीतिकाल में भी कुछ कुछ ऐसा ही होता था।

राजनीति जब साहित्य में अपने प्रचारात्मक ढङ्ग से घुसती है तब साहित्य निष्प्राण हो जाता है। साहित्य का मनुष्य और उसके जीवन के यथार्थ से सम्बन्ध होता है। पंचवर्षीय योजनाएँ साहित्य का सिरजन नहीं कर सकतीं। उनके लिये लिखा गया साहित्य श्रेष्ठ साहित्य नहीं होता। माओ ने कहा है:—

"कलात्मक मानदण्ड के दृष्टिकोण से उच्चकलात्मक गुण की रचनाएँ अच्छी होती हैं या तुलनात्मक रूप से अच्छी, जब कि निम्न कलात्मक गुण की रचनाएँ बुरी होती हैं या तुलनात्मक रूप से बुरी। × × हमें विभिन्न प्रकारों और स्तरों की कलात्मक रचनाओं में स्वतंत्र प्रतियोगिता होने देना चाहिए। लेकिन साथ ही, हमें रचना की आलोचना वैज्ञानिक और कलात्मक मापदंड से करनी चाहिये ताकि क्रमशः हम निम्न स्तर की कला को उच्चस्तर पर उठा सकें और कला जो कि जनता के संघर्ष की सेवा नहीं करती (चाहे वह भले ही बहुत ऊँचे स्तर की हो) उसे बदलना चाहिये। हम जानते हैं कि एक राजनैतिक मानदण्ड है, और एक कलात्मक मानदण्ड है। फिर दोनों का ठीक सम्बन्ध क्या है? राजनीति उसी समय कला नहीं है। साधारण रूप से विश्व दृष्टिकोण कलात्मक रचना का रूप नहीं है। × × किसी भी वर्ग समाज में या उस समाज के किसी वर्ग में पहले राजनैतिक मानदण्ड आते हैं और कलात्मक मानदण्ड बाद में। ×"

कला और राजनीति को अलग मानना ही एक दोष है। किसी भी युग की 'विषयवस्तु' सदैव एक 'रूप' लेकर उठती है और वह युगानुकूल परिस्थिति में साहित्य में विकास प्राप्त करती है। यदि दूसरे युग में वही 'रूप' अपने युग की 'वस्तु' का 'यथार्थ' छोड़कर आता है तो वह पिष्टपेषण है, उसे "कलात्मक' कहा ही नहीं जा सकता। वह मृत 'कला' है। 'कला' तभी जीवित होती है जब वह 'युगसत्य' को लेकर चलती है। अतः इस प्रकार 'मृतकला' को 'कलात्मकता' की स्वीकृति देना 'कला' और 'मार्क्सवाद' दोनों के प्रति अज्ञान का

× प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर, माओत्सेतुङ्ग पृ० २८-२९

परिचय देना है। इसे वे ही मानकर मन समझा सकते हैं जो बुद्धि का स्वामी राजनीतिज्ञों को मानते हैं।

यदि राजनीतिज्ञों को न माना जाये, तो वह मात्र लेखक का 'व्यक्तिवाद' कहलाता है, या 'वर्गीय जीवन का अवशेष' क्योंकि नेता पार्टी है, यानी नेता जनता है। यह सब मूर्खता है। नेता मूलतः व्यक्ति है। बहुमत न तो सदैव ठीक होता है, न आवश्यक है कि एक समय जो बहुमत कहता है कि वह ठीक ही व्याख्या हो। अतिरिक्त इसके यह भी आवश्यक नहीं है कि एक समय का नेता इतनी प्रतिभा भी रखता हो किवह कला का भी मूल्यांकन कर सके। साहित्य पर पार्टी का अंकुश होने के स्थान पर जनता और आलोचकों का अंकुश होना ही अधिक उचित है। अन्यथा व्यवहार में यह होता है कि एक समय में किसी भी पार्टी के प्रमुख व्यक्तियों की मेधा जिसे श्रेष्ठ स्वीकार करती है, उसी को रखा जाता है, बाकी को नष्ट करके किसी अच्छी प्रतिभा को भी नष्ट कर दिया जाता है ' प्रतिभा बार-बार पैदा नहीं होती। प्रतिभा कभी कभी युग से आगे की सोचती है, बल्कि महान कलाकार सदैव ऐसा करता है, वह पुराने मानदण्डों से आगे बढ़ जाता है। राजनीतिज्ञ अपनी 'कुत्ता बफा-दारी' में उसे कभी नहीं समझ सकते। वे अपने ज्ञान स्रोत से उसे नापा जोखा करते हैं। प्रतिभा के रास्ते पहले से कोई निश्चित कर नहीं सकता। नतीजा यह होता है कि प्रतिभा दबा दी जाती है।

मायकोवस्की ने अपने व्यक्तित्व को क्रांति के व्यक्ति से मिला देना चाहा था और उसमें प्रतिभा का उत्स फूटा करता था। उसने ऐसे ही एक मौके पर निम्नलिखित श्रेष्ठ कविता लिखी थी जिसमें जीवन बोलता है—

लेफ्ट मार्च

(लाल सेना के मल्लाहों के प्रति १९१८)

आज साथी बढ़ना सावेग, पंक्ति पर पंक्ति करो सन्नद्ध
नहीं अब समय कि व्यर्थ विवाद—न हो हम सड़े भत्त से, रुद्ध;
मौन हो जाओ वक्ता आज ! आज साथी मौजर ले देख
देख तेरा है यह मैदान ;
बहुत दिन झेले किंतु असह्य—शेष आदम हव्वा के न्याय !

पुरातन इतिहासों के अश्व मोड़ दो त्वरगति ! गूँजे घोष,
(वाम हो पक्ष, चरण हो दक्ष—)
कि बाँया कदम, कि बाँया, कदम
कि बाँया कदम (चलें सब साथ !)
अरे नीली जॉकेट !
गगन की ओर उठा तुम शीश (बढ़ो तुम धीर बढ़ो तुम वीर)
आज सागर लहरों के पार, कि जब तक जल वक्षस्थल फाड़—
सकें ये निर्भय तीव्र जहाज; बढ़ो लहरों पर कुण्ठा घोर
नहीं जब तक करदे निःशक्त,
खोलकर अपने दाँत ब्रिटिश केहरि होकर निर्वीर्य्य
कर उठे श्वानों सा चीत्कार—कि तूफानों से आहत क्षुब्ध !
(न होगा भग्न नवीन समाज), होगा खण्डित आज कम्यून !
(वाम हो पक्ष, चरण हो दक्ष—)
कि बाँया कदम कि बाँया कदम
कि बाँया कदम (चलें सब साथ !)
दुखों के गहन सिंधु के पार
नवल किरणों से दीपित मुक्त दीखते अनजाने मैदान
महामारी के (काले घोर पहाड़ों के) शृंगों के पार
क्षुधा की भीषणता के पार—करोड़ों की पग ध्वनि का नाद !
टुकड़ खोरों की सेना आज घेर लें हमको चारों ओर
और ठण्डे लोहे की चोट बह उठे शतधारा में किंतु
पराजित हो न सकेगा रूस—
ल' औंतों से (साम्राज्यी स्वप्न करेंगे हम अपराजित भग्न !)
(वाम हो पक्ष, चरण हो दक्ष—)
कि बाँया कदम कि बाँया कदम
कि बाँया कदम (चलें सब साथ !)
बाज की दृष्टि हुई कब धुंध ? अरे ! देखें हम पिछला पंथ ?
सर्वहारा का पंजा किंतु विश्व की ग्रीवा को निर्द्वन्द्व

जकड़ता प्रतिपल घनतर आज,
मुक्त हो वक्ष कि दृढ़ हों स्कंध, खोल दो झण्डा निर्भय लाल
गगन में फहरायेगी पंक्ति, कौन है जो होगा गद्दार?
(नहीं है एक! नहीं है एक!) सर्वहारा का हो जयनाद!
(वाम हो पक्ष, चरण हो दक्ष)
कि बाँया कदम, कि बाँया कदम,
कि बाँया कदम, (चलें सब साथ!)*

किन्तु यह व्यक्ति पार्टी की गुटबंदी में मारा गया हालाँकि पार्टी जनता थी, जनता पार्टी थी। बाद में पता चला कि उस समय पार्टी में त्रात्स्कीवादी घुसे हुए थे। फिर पार्टी शुद्ध होगई। कई वर्ष बाद स्तालिन की मृत्यु हुई तो पार्टी जनता-जनता पार्टी में से एक बेरिया गद्दार कह कर गोली से मार दिया गया। वह इतना उस्ताद बताया गया कि जिन्दगी भर स्तालिन को और सारी पार्टी को मूर्ख बना कर ठाठ से नेतृत्व करता लेखकों को सलाह देता रहा। बाद में पता चला कि वह पार्टी जनता-जनता पार्टी में व्यक्तिवादी रह गया था, और उसके दोषों पर अचानक ही प्रकाश पड़ा। तो कहने का तात्पर्य्य यह है कि पार्टी के व्यक्तियों से पार्टी बनती है। जनता उन्हें चुनती है क्योंकि तुलनात्मक रूप में वे अच्छे होते हैं। इतिहास को राजनीति में तुलनात्मक रूप से अच्छे आदमियों से ही काम चलाना पड़ता है। परंतु कलाकार का व्यक्तित्व इस प्रकार नहीं नापा जा सकता। उसके लिये तो 'कालोह्ययं निरवधि विपुला च पृथ्वी' का सिद्धान्त मानना ही उचित है। विज्ञान बाह्य उन्नति करता है, राजनीतिज्ञ उस बाह्य का नियोजन कर समाज को नियमन देता है, किन्तु इन सबसे बड़ा काम सच्चा कलाकार करता है कि वह मनुष्य को मनुष्य बनाता है। राजनीतिज्ञ स्तालिन खुद इसे मानता था, उसने कलाकारों को 'आत्मा का शिल्पी' (Builders of the soul) कहा था।' हमें वहाँ तक कोई आपत्ति नहीं है जहाँ तक ये नेता लोग काव्य के समाज शास्त्रीय पक्ष की व्याख्या करते हैं, किन्तु वे जीवन की गहराइयों के उन रूपों को क्या छुएंगे

* अनुवाद मैंने ही किया है।

जो कलाकार के बाद यदि कोई समझता है तो कला की गहराइयों में उतरने वाला आलोचक ही। वैसे लाठी से भैंस ही क्या मनुष्य भी डरता है।

यह कहने वाले भी कम नहीं होंगे कि विश्वविख्यात मार्क्सवादी जन-नेताओं में गलती निकालने का प्रयत्न पार्टीविरोधी ही नहीं, घूम फिरकर वर्गीय संस्कार का विध्वस्त किन्तु साँस लेता हुआ रूप है। किन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि जब मार्क्स नहीं था, तब जो निरन्तर व्यक्ति का भावपक्ष आगे बढ़ता रहा, जिसने भौतिक जगत की सीमाओं में बद्ध रह कर भी, आगे की ओर संकेत किया, वह कलाकार में कौन-सा तत्त्व था। क्या अब आगे उस तत्त्व की आवश्यकता ही नहीं रही है? यदि नहीं है तो साहित्य की रचना व्यर्थ है, जो राजनीतिज्ञों की बनाई योजनाओं को प्रतिरूप देता रहे।

वह तत्त्व कलाकार की उस दृष्टि में होता है जो मनुष्य के सर्वाङ्गीण चित्रण में, मनुष्य के भीतर और बाहर को प्रस्तुत करते समय उन सम्बन्धों को बताती है जो कि साधारणतया दिखाई नहीं दिया करते।

राजनीति पार्टी के बल पर ही चलती है! प्राचीनकाल में भी वर्गीय स्वार्थ सेना के साथ शक्ति ग्रहण करते थे। आज भी सर्वहारा अपने प्रतिनिधि चुनकर सेना के साथ शक्ति ग्रहण कर चुका है और जहाँ नहीं कर सका है करेगा। किन्तु साहित्य पार्टी से नहीं बनता, व्यक्ति से बनता है। साहित्य और राजनीति में परस्पर संबंध होने पर भी यह एक मौलिक भेद है। कोई कितना भी अच्छा राजनीतिक नेता क्यों न हो, वह कलाकर हो सके यह तो आवश्यक नहीं है। राजनीति शास्त्र को न जानने वाला भी महान कलाकार जब अपनी प्रतिभा से जीवन का यथार्थ वर्णन करता है, तब राजनीतिज्ञ जो प्रभाव नहीं डाल सकते, वह कलाकार डाल सकता है। हम गतयुगों के मानव को देखने के लिये धर्म शास्त्रों को नहीं देखते, जो कि तत्कालीन विचारकों के बनाये नियम थे। हम तो तत्कालीन कवियों को पढ़ते हैं और उनके माध्यम से हमें मानव के दर्शन होते हैं। वस्तु जगत के वाह्य विस्तार में से सौंदर्य का सृजन करने वाला राजनीतिज्ञ नहीं होता, कवि होता है। गोर्की ने जितनी गहराई और व्यापकता से साम्यवादी विचारों और अनुभूतियों को फैलाया है उतना लेनिन नहीं कर सका। हो सकता है जब मैं स्पष्ट कहूँ कि

कलाकार का दर्जा राजनीतिज्ञ से मानव विकास के दृष्टिकोण से ऊँचा है, तो इसे लेखकों का व्यक्तिवादी अहंकार समझा जाये, किन्तु राजनीतिज्ञ का दर्जा ही ऊँचा है ऐसा समझने वाले क्या संस्कृति की व्यापकता का अपमान नहीं करते ?

विचारों का वैविध्य आवश्यक है। राजनीतिज्ञ विचारों को यदि फलने फूलने का समय नहीं देते, तो वे जनता की बुद्धि पर विश्वास नहीं करते, अपने को ही जनता की बुद्धि समझ लेते हैं। इस प्रकार भले ही वे अपने श्रम से वाह्य जीवन को कुछ अंश तक सुधार लें किंतु चिंतन का अधिकार छीनकर वे जनता की बुद्धि की लचक और व्यापकता पर भी प्रहार करते हैं। राजनीतिज्ञ सचेत रह कर उन प्रवृत्तियों को काट सकते हैं जो कि समाज में कुत्सा फैलाती हैं, किन्तु वे कलाकार की मौलिकता को अपनी ही कसौटी पर कसते रहेंगे तो कला का गला ही घुट जायेगा। इसीलिये आवश्यकता इस बात की है कि वर्गहीन समाज के निर्माण में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाये कि कलाकार को अभिव्यक्ति की वहाँ तक पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाये जहाँ तक वह वर्गगत समाज को लौटा लाना नहीं चाहता। कलाकार जिसे उपस्थित करता है, वह यथार्थ से सम्बन्धित विचार होता है। वही उसकी अभिव्यक्ति होती है जिसे वह सामने लाता है। वह संसार को देखा करता है। उसके मानस पर उसका प्रभाव पड़ता रहता है। उसका मस्तिष्क सब कुछ को ज्यों का त्यों नहीं ले लेता। कुछ को चुन लेता है, कुछ को छोड़ देता है। यह दोनों काम उसके भीतर साथ-साथ चला करते हैं ! वह अपने विषय को अपने अनुरूप बनाकर रखता है। वह उसे एक आदर्श रूप दे देता है। वाणी काव्य को प्रस्तुत करने का माध्यम होती है। कविता भाषा को अपने प्रयोग में लाया करती है। वह भाषा के उस आदर्श रूप को सँवारता है ताकि वह आदर्श सौंदर्य्य की अभिव्यक्ति कर सके।+

+. What the artist reproduces is on 'idea of the reality which is the subject of his representation ; an idea formed in his mind by a double process of selection and mission. × × In a word he idealizes his subject. × × Speech is the instrument of poatry ;

काव्य के अध्ययन के समय यदि हमें यह याद रहता है तो कवि पर घट-नाएं लादने की आवश्यकता नहीं रहती कि अमुक घटना हो चुकी है, उस पर तो कुछ लिखा ही नहीं गया ! यह प्रश्न फिर सामने आता ही नहीं।

पुराने कवियों में जिन लोगों ने अपनी चाटुकारिता में इस प्रकार का चुनाव छोड़ कर अपने आश्रयदाताओं की प्रत्येक रुचि के अनुकूल काव्य उप-स्थित किया है, उसमें उन्होंने भाषा का चमत्कार तो दिखाया है, किन्तु भाव को वे नहीं जगा पाये हैं।

भक्त कवियों में यह बात नहीं है। उन्होंने अपनी ही इच्छा से अपना विषय चुना है। उस विषय के पीछे कोई-कोई तो इतना रम गया है कि उसने उसी को जीवन भर गाया है। सूर कृष्ण के जीवन से ऐसे ही अनुरागरत हो गये थे। वे दिन रात वही गाते थे। उनके सैकड़ों ही पद हैं। परन्तु सब में समानशक्ति नहीं है। अच्छे तो वे ही बन पड़े हैं जिनमें कवि का हृदय बिल्कुल ही तन्मय होगया है।

इस प्रकार की तन्मयता ने सुन्दर काव्य को जन्म दिया है। यह तन्मयता सूर में वैयक्तिक होकर भी एक काल विशेष की ही देन थी।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने (साहित्यालोचन, छठा संस्करण १९८९ सं० पृ० ५१–५२) कहा ही है: जिस काल में जो गुण या विशेषत्व प्रबल रहता है वही उस काल की प्रवृति या भाव कहलाता है। इस भाव या प्रवृति को हम किसी निर्दिष्ट काल के कवियों की कृति के अध्ययन से निर्धारित कर सकते हैं, पर हमें इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि हिन्दी साहित्य का इतिहास निर्दिष्ट कालों में कठिनता से बाँटा जा सकता है। साहित्य का जो प्रवाह आरंभ से बहा, वह बहता ही गया, भिन्न-भिन्न कालों में उसके रूप में परि-वर्त्तन तो हुए, पर प्रवाह का मूल एक ही सा बना रहा। किसी निर्दिष्ट काल की प्रकृति जानने में हमें कवि विशेष ही की कृति पर अवलंबित न होना

---

poetry moulds it to its uses and idealizes it that so it may express ideal beauty.

(Judgement in Liteature.
W. Basil Worsfold. 1932. pp. 43—44.

चाहिये, चाहे वह कवि कितना ही बड़ा, कितना ही प्रभावशाली और काव्य-कला के ज्ञान से कितना ही संपन्न क्यों न हो। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह कवि भी तत्कालीन सामाजिक जीवन और सांसारिक परिस्थिति से बचा नहीं रह सकता, उसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं हो सकती, वह भी जाति के क्रमिक विकास की श्रृङ्खला के बंधन के बाहर नहीं जा सकता। इस बात का ध्यान रखने से ही हम उसके ग्रंथों के अध्ययन से जातीय विकास का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। ×× कविता के विषय, विषय-प्रतिपादन की प्रणाली, भाव व्यञ्जना के ढङ्ग आदि की ही गणना गुण विशेषों में हैं। वे ही एक काल के कवियों को दूसरे काल के कवियों से पृथक् कर देते हैं। जैसे प्रत्येक ग्रन्थ में उसके कर्त्ता का आन्तरिक रूप प्रच्छन्न रहता है और प्रत्येक जातीय साहित्य में उस जाति की विशेषता छिपी रहती है, वैसे ही किसी काल के साहित्य में परोक्ष रूप से उस काल की विशेषता भी गर्भित रहती है। किसी काल के सामाजिक जीवन की विशेषता अनेक रूपों में व्यंजित होती है, जैसे राजनीतिक संघटन, धार्मिक विचार, आध्यात्मिक कल्पनाएं आदि। इन्हीं रूपों में से साहित्य भी एक रूप है, जिस पर अपने काल की जातीय स्थिति की छाप रहती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन साहित्य को भी हमें इसी प्रकार देखने पर स्पष्टता दिखाई देती है।

तुलसी भी इसके अपवाद नहीं हैं। वे सामन्तीय युग में ही पैदा हुए थे और उनके काव्य में सामंतीय जीवन ही मिलता भी है। किंतु याद रखना होगा कि तुलसी ने जो आदर्श परिवार बनाया है, वह सामन्तीय होते हुए भी मानवीय संवेदनाओं की व्यापक अनुभूति के कारण संबंधों के ऊपर मानवीय अनुभूतियों को प्रश्रय देता है। भाई का भाई के प्रति प्रेम, पुत्र की कर्त्तव्य दृढ़ता, पत्नी का पति के साथ जीवन रण में घुसने को उद्यत होना, कर्त्तव्य रत पति को कर्त्तव्य में रत देखकर पत्नी का अपने लिये विशेषाधिकार न माँगना, इत्यादि अनेक ऐसी ही बातें हैं। सामंतीय परिवारों में बहु-विवाह प्रथा की कुरीति भी स्पष्ट हो जाती है। इन आदर्शों में तो सार्वभौमित्व है। यही शेक्सपियर के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है।

तुलसी ने अपने युग की कुछ परिस्थितियों में परिवर्त्तन लाने का प्रयत्न किया था। उस विषय पर मैं अन्यत्र लिख चुका हूँ।×

अन्त में हमें यथार्थ के रूप को देख चुकने पर यह देखना चाहिये कि यथार्थ का कितना अंश साहित्य में आना चाहिये। अंश की कोई सीमा नहीं है। वह तो कलाकार की प्रतिभा और मौलिकता तथा भावाभिव्यंजना के स्वरूप पर निर्भर है। बहुत से कवि यथार्थ की शरण लेते हैं किन्तु भाव को टस से मस नहीं कर पाते, बहुत से लेखक कल्पना से ही यथार्थ का चित्रण करते हैं। उदाहरण के लिये स्विफ्ट् के 'गलीवर्स ट्रैविल' में कल्पना लोक का चित्रण है, किन्तु वह समाज पर गहरा व्यंग्य है। कामायनी में जयशंकर 'प्रसाद' ने मानव जाति की एक बहुत पुरानी कहानी ली है किन्तु उसमें समाज की आधुनिक समस्या का प्रतिपादन किया गया है। प्रलय अपने रूपान्तर में पुराने विश्वासों की उस तृप्ति का ढह जाना है, जिसमें पुराना मानव अपने को संतुष्ट समझता था। नये युग की बाढ़ ने उसके समस्त पुरातन का विध्वंस कर दिया और वह फिर से सोचने के लिये विवश होगया।

छायावाद में भी यथार्थ प्रत्यक्ष रूप से नहीं था, किन्तु उसने चेतना को झकझोर दिया और व्यापकता की ओर व्यक्ति को आकर्षित किया। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यदि द्विवेदी कालीन कविता को तत्कालीन राज्य के विधाता और शासक आदर्श कह कर मानदण्ड प्रस्थापित करते, तो छायावाद अपने को विकसित ही नहीं कर पाता। अचानक इतिहास ने व्यक्ति की प्रतिभा के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त किया। अपना ऐतिहासिक कार्य समाप्त हो जाने पर वह अपने आप स्वयं ही नहीं चल सका। किंतु यदि प्रारंभ में ही उस पर रोक लग जाती, तो क्या हिन्दी में इतना शीघ्र वह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण आ जाता?

कवि और कलाकार की मौलिकता को राजनीतिज्ञ समझ लें, इतना उनमें ज्ञान नहीं। वे साहित्य पर यदि अंकुश रखते हैं तो सत्-साहित्य का प्रचार नहीं हो सकता। युग की वास्तविक आवश्यकता काव्य साहित्य के क्षेत्र में

× देखिये संगम और संघर्ष—ले० रांगेयराघव

व्यक्तियों के द्वारा पूरी होती है, किसी राजनीतिक दल के लोग उसे नहीं कर सकते। अतः कवि की मौलिक साधना जिस व्यवस्था में यथार्थ के नाम पर घोटी जाती है, वह व्यवस्था पूर्णतया सुसंस्कृत नहीं है। यथार्थ की अभिव्यक्ति और विकास सदैव लेखक के ही चुनाव का उत्तरदायित्व है। प्राचीन और मध्यकालीन युगों में व्यवस्थाओं के गतिरोध से आगे बढ़ाने वाले कवि ही थे। जीवन के नानाविध रूपों के अध्ययन में कलाकार जो संगतियाँ या असंगतियाँ ढूंढ़ लेता है, वह राजनीतिज्ञ नहीं ढूंढ़ सकते, क्योंकि वे वाह्यमात्र से संबंध रखते हैं, और कवि अन्तर्बाहर से। यह कल्पना साम्यवादी व्यवस्था में क्यों कर ली जाती है कि राजनीतिज्ञ ही अधिक बुद्धिमान होता है जो सब पर अंकुश रख सकता है। वह यह क्यों याद नहीं रखता कि कलाकार उससे भी अधिक बुद्धिमान होता है और उसका उत्तरदायित्व उससे भी बड़ा होता है। यथार्थ ब्रह्मचर्य्य नहीं है। "यह कहना कि विधवाओं को ब्रह्मचर्य्य से मोक्ष मिल जाता है, इसके अनुभव में कोई आधार नहीं है। मोक्ष के लिये ब्रह्मचर्य्य से भी अधिक गुणों की आवश्यकता है। जो ब्रह्मचर्य्य ऊपर से लादा जाता है उसमें कोई अच्छाई नहीं होती बल्कि वह भीतर ही भीतर पलकर बुराइयों के रूप में समाज में घुन लगा देता है।"[१]

यथार्थ युगपरक होता है। प्रगति एक युग में समाप्त नहीं हो जाती। वह युगान्तर में यात्रा करती है। कलाकार का मानस उसी को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बोध से प्रदर्शित करता है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्रत्येक युग में "अच्छे कलाकार कम होते हैं, जैसे कि मेधावी राजनीतिज्ञ कम होते हैं। छुटभैये बड़ों की नकल सदैव किया करते हैं और करते रहेंगे। उन पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

इतिहास एक नये मोड़ पर आ गया है। पुरातन भारत फिर स्वतन्त्र हो गया है। डेढ़ सौ वर्ष इसने अपना महत्त्व इतिहास में प्रतिपादित नहीं किया।

१. टू द स्टूडेन्ट्स—गांधी सीरीज़—१. आनन्द टी. हिंगोरानी. १६४१—पृ० १७५

किन्तु अब यह फिर प्रतिपादित करने की शक्ति धारण कर सका है। उसकी शक्तियाँ असीम हैं क्योंकि उसकी विरासत महान है। उस सारी विरासत को लेकर उसमें से अच्छाई को छाँटकर हमें निरन्तर आगे बढ़ना है, तब तक जब तक कि हम मनुष्य मात्र को सुखी न बना लें, शोषण को जड़ समूल न हटादें और फिर मनुष्य स्वतन्त्र होकर सृष्टि की विराट खोज में लग जायेगा।

काव्य उसकी अन्तरात्मा का उद्बोधन है, प्रेरणा है, विकास है। वही उसके हृदय की सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति है।

अणुयुग का काव्य निस्संदेह महान होगा, इतना कि अपने अतीत की सौन्दर्य भावना से हमारा नया कवि प्रेरणा लेकर उस विराट व्यापक सौन्दर्य का सिरजन करेगा जो कि प्रकृति के रोम-रोम में पुकार-पुकार कर हमारी चेतना को जाग्रत करना चाहता है।

हम इस युग के संधिकाल में खड़े हैं। हमारी ही पीढ़ी को पुरातन का सौंदर्य लेना है, और नवीन का सिरजन करना है। इस संधियुग में हमें जीवन के यथार्थ पर ही अपनी प्रगति को आधारित करना होगा क्योंकि उनके बिना हम अपने भावजगत के मूलाधार वस्तु जगत से फूट जायेंगे। तभी एक कवि ने कहा है—

आरही है नींद तुझको दरयियाने कारेज़ार
देख वह तेगे उदू चमकी, खुदारा होशियार
होशियार ऐ मर्दे गाफिल होशियार
खून के धारे के अन्दर से है जिसका रास्ता
आँसुओं के सैल में तू ढूँढ़ता है वह दयार
होशियार ऐ मर्दे गाफिल होशियार
आरही है दस्ते दूस्तबदाद से बांदे समूम
और महकूमी समझती है नसीमे खुशगवार

+ + + +

तन से रुखसत हो रही है रूहे मज़दूर ज़ईफ़
हल्क़ पर रखा हुआ है खंजरे सरमायादार

अर्सये आलम का हर जर्रा है मैदाने अमल
बज्मे-हस्तो-बूद का हर जर्रा है रोजे शुमार
होशियार ऐ मर्दे गाफिल होशियार।

—जोश मलीहाबादी

फारसी गर्भित हिंदी के इस कवि ने जिस उद्बोधन की पुकार उठाई है वह नवयुग के लिये आवाहन है। वह जीवन की नयी गरिमा पहँचानने का अनथक प्रयास है। आशा है वह गूंजेगी और आगे का पथ प्रशस्त करती चली जायेगी। नवयुग टूटने वाले अणु से संहार के स्थान पर नयी शक्ति की प्रतीक्षा कर रहा है, नया मनुष्य गिरते विश्वासों में नयी मानवीयता के जागरण की अनुभूति प्राप्त करता हुआ नये सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिये संघर्ष का आनंद उठा रहा है और वह आगे बढ़ने के लिये 'उदात्ततर' होता जा रहा है।